अमृतलाल नागर

जिनके साथ जिया



जिनके साथ जिया

अमृतलाल नागर

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

आमुख

प्रतिवर्ष स्वनामधन्य साहित्यकारों की जन्मतिथियां अथवा पुण्यतिथियां आती हैं। यह लेख उसी निमित्त से समय-समय पर लिखे गए थे। स्मृतियां जब किसी एक विशेष धारा में श्रद्धा और प्रेमवश प्रवाहित होती हैं तो कुछ न कुछ ऐसी बातें सामने आ ही जाती हैं जो यों ध्यान में नहीं आतीं। पाठकों को ऐसी स्मृति-निधि इन लेखों में थोड़ी या बहुत अवश्य मिलेगी। वैसे जिनके साथ जिया हूं, अथवा जिन महा-पुरुषों के संग-साथ से मुझे जीने का ढंग मिला है उनके सम्बन्ध में अपने उद्गारों को एक जगह संजो देने का मोह भी इस पुस्तक के प्रकाशन का एक कारण है। मेरे कनिष्ठ पुत्र चि० शरद ने इधर-उधर बिखरी हुई इस सामग्री को इतने वर्षों तक बटोर और सहेज कर रखा इस लिए उनका उपकार मानता हूं।

चौक, लखनऊ
9 दिसंबर, '72

—अमृतलाल नागर

प्रसाद : जैसा मैंने पाया

प्रसाद जी से मेरा केवल बौद्धिक संबंध ही नहीं, हृदय का नाता भी जुड़ा हुग्रा है। महाकवि के चरणों में बैठकर मैंने साहित्य के संस्कार भी पाए हैं ग्रौर दुनियादारी का व्यावहारिक ज्ञान भी। पिता की मृत्यु के बाद जब बनारस में उनसे मिला था तब उन्होंने कहा था, "भाइयों के सुख में ही ग्रपने सुख को देखना। हिसाब-किताब साफ रखना। तभी घर के बड़े कहलाग्रोगे।" इसी बात को लेकर प्रसाद जी ग्राज भी मेरे जीवन के निकटतम हैं। यों बरसों उनके साथ रहकर ग्रपनापन पाने का सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हुग्रा। सब मिलाकर बीस-पच्चीस बार भेंट हुई होगी। ग्रादरणीय भाई विनोदशंकर जी व्यास के कारण ही उनके निकट पहुंच सका। साहित्य की उस गम्भीर मूर्ति को खिल-खिलाकर हंसते हुए देखा है। चिन्तन के गहरे समुद्र को चीरकर निकली हुई सरल हंसी उनके सहज सामर्थ्य की थाह बतलाती थी। यही उनका परिचय है जो मैंने पाया है। प्रसाद ग्राशावादी थे, ग्रौर उनकी ग्राशावादिता का ग्रडिग ग्राधार-स्तम्भ थी उनकी ग्रास्तिकता।

मेरा मन जड़ होकर भी ग्रभी चेतना से दूर नहीं गया। पिछली ज्ञान-कमाई के संस्कार नये जीवन के लिए ग्राज भी बल देते हैं। चारों ग्रोर फैली हुई निराशा ग्रौर मेरे मन के ग्रवसाद को पीछे ढकेलकर महाकवि का स्वर मेरी क्रियाशीलता को हौसला दिखाता है :

"कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;
इसी विपिन में मानस की
ग्राशा का कुसुम खिलेगा।"

प्रसाद जी के इस दृढ़ विश्वास की पृष्ठभूमि में उनके जीवन की गम्भीर

साधना बोल रही है। परीक्षा की कठिनतम घड़ियों में भी उनकी आशावादिता अडिग रही, उनका कर्मयज्ञ अटूट क्रम से चलता रहा। पिता और बड़े भाई के स्वर्गवास के बाद दुनियादारी के क्षेत्र में उन्हें कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। पुराने घराने के नाम और साख का प्रश्न, कर्ज़ का बड़ा बोझ, कुटुम्बियों के कुचक्रों की दुश्चिन्ता—इन कठिन समस्याओं के जाल में जकड़े हुए सत्रह वर्ष के युवक प्रसाद को जो शक्ति उबारती रही, वह थी उनकी अनवरत साहित्य-साधना, उनकी निष्ठा। विषम परिस्थितियों के रहते हुए भी प्रसाद पागल नहीं हुए; कुचक्रियों से वैर साधने के लिए स्वयं कुचक्री भी नहीं बने, दुनियादारी के दलदल में पूरी तौर पर फंसकर भी हिम्मत नहीं हारे, और अपनी 'स्पिरिट' को तरोताज़ा रखने के लिए उन्होंने पठन-पाठन और साहित्य-रचना की वृत्ति को अपनाया—इस बात को समझने के लिए हमें उनके वातावरण और उनके संस्कारों को समझना होगा।

धनी और कीर्तिशाली घराने में उन्होंने जन्म पाया। दानियों के घर में जन्म लेनेवाला युवक किसीके आगे हाथ नहीं पसार सकता। इसलिए विषम परिस्थितियों ने घेरकर उन्हें स्वावलम्बी बनाया। इसके लिए सौभाग्यवश उन्हें बचपन में अच्छे संस्कार प्राप्त हो चुके थे। अच्छे शिक्षक द्वारा वेदों-उपनिषदों का अध्ययन काशी के धर्मनिष्ठ घराने के छोटे उत्तराधिकारी के एकान्त क्षणों को विचारों की स्फूर्ति से भरता रहा। बुरे समय में आस्तिक मनुष्य स्वाभाविक रूप से उदारचेता हो जाता है। उसकी करुणा भक्ति का रूप धारण कर विश्वात्मा के प्रति समर्पित होती रहती है। सत्रह वर्ष की अवस्था में जब प्रसाद जी घर के बड़े बनकर दुनियादारी की कठिन कसौटी पर चढ़े तब उनके विद्याभ्यास का क्रम चल ही रहा था। पढ़ा हुआ पाठ तत्काल ही मन भरने के काम आ गया। उनका चिन्तन ठोस बना। 'कामायनी' के महाकवि का परमोत्कर्ष जीवन की पहली कठिनाइयों की शिला पर विधना की लेखनी की तरह अंकित हो गया था। उनका दार्शनिक रूप उनका कवि-हृदय और कठिन साहित्य-साधना का प्रारम्भिक अभ्यास इन्हीं बुरे दिनों में विकसित हुआ।

प्रसाद जी की कविता चोरी-छिपे शुरू हुई। उन दिनों बड़े घर के लड़कों का कविता आदि करना बड़ा खराब माना जाता था। लोगों का ख्याल था कि इससे लोग बरबाद हो जाते हैं। और वाकई बरबाद ही हो जाते थे। रीतिकाल

अवसान के समय ब्रजभाषा के अधिकांश कवियों के पास काव्य के नाम पर कामिनियों के कुचों और कटाक्षों के अलावा और बच ही क्या रहा था। ऐसे कवियों में जो गरीब होते थे वे मौके-झप्पे से अपनी नायिकाओं को हथियाने की कोशिश करते थे, और अमीर हुए तो फिर पूछना क्या? रुपयों के रथ पर चढ़कर नायिकाएं क्या, उनके मां-बाप, हवाली-मवाली तक सब कवि जी के दरबार में जुट जाते थे। इसलिए बड़े भाई शम्भूरत्न जी ने इन्हें कविता करने से बरजा। परन्तु प्रसाद की काव्य-प्रेरणा में कोरा जवानी का रोमांस ही नहीं था, उपनिषदों के अध्ययन के कारण ज्ञान से उमगी हुई भावुकता भी थी। इन्हीं दोनों विशेषताओं ने प्रसाद को आगे चलकर रहस्यवादी कवि बनाया। परन्तु रहस्यवादी के नाते वे उलझे हुए नहीं थे। प्रसाद का एक सीधा-सादा मार्ग था जिसपर चलकर उन्होंने अपनी महाभावना का स्पर्श पाया।

प्रसाद चोरी से कविताएं किया करते थे, इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें अपनी लगन की बातों को चुराकर अपने तक ही रखने की आदत थी। यह आदत सुसंस्कारों का प्रभाव पाकर मनुष्य को अपनी लगन में एकान्त निष्ठा प्रदान करती है। प्रसाद की साहित्य-साधना में हर जगह निष्ठा की पक्की छाप है। कवि, नाटककार, कहानी-उपन्यास-लेखक और गम्भीर निबन्ध-लेखक—किसी भी रूप में प्रसाद को देखिए—उनकी चिन्तन-शक्ति साहित्य के सब अंगों को समान रूप से मिली है। रचना छोटी हो या बड़ी, निष्ठावान साहित्यिक के लिए सबका महत्त्व एक-सा है।

बीसवीं शताब्दी के पहले दस-बारह वर्ष भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण थे। वह सारा महत्त्व युवक प्रसाद के भावुक हृदय और उर्वर मस्तिष्क ने ग्रहण कर लिया था। विशेष प्रकार के संस्कारों में पलने वाले युवक ऐसी अवस्था में आम तौर पर अतीत के गौरव से भर उठते हैं। वैसे तो हर जगह के निवासी को अपने देश और उसके इतिहास से बहुत प्यार होता है; पर इस देश में एक अजीब जादू है। हमारे इतिहास की परम्परा महान् है; जीवन की अनेक दिशाओं में हम अपने ढंग से पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। यह चेतना बीसवीं शताब्दी के शैशव काल में स्वातंत्र्य गंगा की नई लहर से प्रसाद जैसे मनीषी महाकवि का हृदय अभिषिक्त न करती तो और किसका करती?

प्रसाद जी ने मुझे भी एक ऐतिहासिक प्लाट उपन्यास लिखने के लिए दिया था। उस दिन दो-ढाई घंटे तक बातें होती रहीं। भाई ज्ञानचन्द जैन भी मेरे साथ थे। उपन्यास, नाटक और कहानियों में घटनाओं, चरित्रों या चित्रों के घात-प्रतिघात की प्रणाली मनोवैज्ञानिक आधार पाकर किस प्रकार सप्राण हो उठती है, यह उस दिन प्रसाद जी की बातों से जाना। वे बातों को बड़ी सहूलियत के साथ समझाते थे। उन्होंने किसी पुस्तक से खोजकर 'कलियुग राज वृत्तान्त' नामक ग्रन्थ के कुछ श्लोक सुनाए और लिखवा दिए। उन दिनों, वे 'इरावती' लिख रहे थे। वे रूलदार मोटे कागज़ पर लिख रहे थे। फुलस्केप कागज़ को बीच से कटाकर उन्होंने लम्बी स्लिपें बनाई थीं। उन्हीं स्लिपों में से एक पर वे श्लोक मैंने लिख लिए। चन्द्रगुप्त प्रथम का कुमार देवी और नेपालाधीश की सुता के साथ विवाह होने का राजनीतिक इतिहास ही उन श्लोकों में अंकित था।

मैंने उत्साह में भरकर उन्हें वचन दिया कि जाते ही लिखने बैठ जाऊंगा।

सन् छत्तीस में जब वे प्रदर्शनी देखने के लिए लखनऊ आए तब मैं उनसे मिला था। मेरे वचन देने के लगभग साल-भर बाद उनसे यह पहली भेंट हुई थी। उस साल उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था—भरा हुआ मुंह, कान्तियुक्त गौर वर्ण, चश्मे और माथे की रेखाओं की गम्भीरता उनकी सरल हंसी के साथ घुलमिलकर दिव्य रूप धारण करती थी। मैंने प्रणाम किया, उन्होंने हंसते हुए उत्तर में कहा, "कहिए, मौज ले रहे हैं?"

यह मेरी जोशीली प्रतिज्ञा का ठण्डा पुरस्कार था। बरसों बाद एक फिल्म-कम्पनी के लिए उस प्लाट के आधार पर मैंने एक सिनेरिओ तैयार किया था। जहां तक मेरी धारणा है, कहानी अच्छी बनी थी। सन् '45 में लड़ाई खत्म होते ही कास्ट्यूम पिक्चरों का निर्माण कार्य एकदम से बंद पड़ गया। वह कहानी उनके तात्कालिक उपयोग की वस्तु न रही। इसके साथ ही साथ वह मेरे किसी काम की न रही। वह बिक चुकी थी। अपना वचन न निभा पाने की लज्जा से आज भी मेरा मस्तक नत है। शायद यह लज्जा किसी दिन मुझे कर्त्तव्य-ज्ञान करा ही देगी और मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा।

प्रसाद जी जैसे उदार महापुरुष की याद आज के दिनों में और भी अधिक आती है जब कि दूसरी लड़ाई के अन्त में नाटकीय रूप से अवतरित होकर

एटम बम ने सबसे पहले मानव-हृदय की उदारता का ही संहार कर डाला। इसी एटम बम की संस्कृति में पले हुए मुनाफाखोरी और एक सत्ताधिकार के संस्कार आज जन-मन पर शासन कर रहे हैं, पुस्तकालय सूने पड़े हैं। सिनेमाहाल मनोरंजन के राष्ट्रीय तीर्थ बन गए हैं। गली-मोहल्लों में प्रेम का सस्ता संस्करण फैल गया है। एक युग पहले तक जहां मैथिलीशरण की 'भारत-भारती' और प्रसाद के 'आंसू' की पंक्तियां गाते-गुनगुनाते हुए लोग शिक्षित मध्यम वर्ग के नवयुवकों में अक्सर मिल जाते थे, वहां अब प्रसाद का साहित्य पढ़ने वाला शायद मुश्किल से मिले, उनकी बात जाने दीजिए जिन्हें परीक्षा के कारण मजबूर होकर प्रसाद को पढ़ना ही पड़ता है। एटम बम की संस्कृति का हमारी सभ्यता पर यह प्रभाव पड़ा है।

[1950]

शरत् के साथ बिताया कुछ समय

याद आता है, स्कूल-जीवन में, जब से उपन्यास और कहानियां पढ़ने का शौक हुआ, मैंने शरत् बाबू की कई पुस्तकें पढ़ डालीं। एक-एक पुस्तक को कई-कई बार पढ़ा। और आज जब उपन्यास अथवा कहानी पढ़ना मेरे लिए केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं, वरन् अध्ययन का प्रधान विषय हो गया है, तब भी मैं उनकी रचनाओं को अक्सर बार-बार पढ़ा करता हूं। उनकी रचनाओं को मूल भाषाओं में पढ़ने के लिए ही मैंने बंगला सीखी। सचमुच ही, मैं उनसे बहुत ही प्रभावित हुआ हूं।

उनके दर्शन करने मैं कलकत्ता गया। परिचय होने के बाद, दूसरे दिन जब मैं उनसे मिलने गया, मुझे ऐसा मालूम पड़ा जैसे हम वर्षों से एक-दूसरे को बहुत अच्छी तरह से जानते हैं।

इधर-उधर की बहुत-सी बातें होने के बाद एकाएक वह मुझसे पूछ बैठे, "क्या तुमने यह निश्चय कर लिया है कि आजन्म साहित्य-सेवा करते रहोगे?"

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "जी हां।"

वे बोले, "ठीक है। केवल इस बात का ध्यान रखना कि जो कुछ भी लिखो, वह अधिकतर तुम्हारे अपने ही अनुभवों के आधार पर हो। व्यर्थ की कल्पना के चक्कर में कभी न पड़ना।"

आरामकुर्सी पर इतमीनान के साथ लेटे हुए, सटक के दो-तीन कश खींचने के बाद वह फिर कहने लगे, "कालेज में मुझे एक प्रोफेसर महोदय पढ़ाते थे। वह सुप्रसिद्ध समालोचक भी थे। कालेज से बाहर आकर मैंने देवदास, परिणीता, बिन्दूरछेले (विन्दू का लड़का) आदि कुछ चीज़ें लिखीं। लोगों ने उन्हें पसन्द भी किया। एक दिन मार्ग में मुझे वे प्रोफेसर महोदय मिले। उन्होंने मुझसे कहा, 'शरत्, मैंने सुना है तुम बहुत अच्छा लिख लेते हो। लेकिन भाई, तुमने अपनी कोई भी रचना मुझे नहीं दिखलाई।'

"संकोचवश मैंने उन्हें उत्तर दिया, 'वे कोई ऐसी चीज़ें नहीं, जिनसे आप जैसे पण्डितों का मनोरंजन हो सके। उनमें रक्खा ही क्या है?'

"उन्होंने कहा, 'खैर, मैं उन्हें कहीं से लाकर पढ़ लूंगा। मुझे तो इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि तुम लिखते हो। परन्तु शरत्, मेरी भी दो बातें हमेशा ध्यान में रखना। एक तो कभी किसीकी व्यक्तिगत आलोचना न करना और दूसरे, जो कुछ भी लिखना वह तुम्हारे अनुभवों से बाहर की चीज़ न हो।' कहते-कहते उन्होंने एक क्षण के लिए अपनी आंखें बन्द कर लीं। फिर वे मेरी ओर देखकर बोले, 'यही दोनों बातें मैं तुम्हें भी बतलाता हूं, भाई।'"

किसी एक बात को बहुत आसानी के साथ कह जाना, उनकी विशेषता थी। बातचीत करते-करते वे हास्य का पुट इस मज़े में दे जाते थे, जैसे कोई गम्भीर बात कह रहे हों।

ग्रामोफोन पर इनायत खां सितारिये का रेकार्ड बज रहा था। आखीर में उसने अपना नाम भी बतलाया। वे मुस्कराए, फिर हुक्के का कश खींचते हुए बोले, "भाई, तबियत तो मेरी भी करती है कि मैं अपना रिकार्ड भरवाऊं। और आखीर में मैं भी इसी लहज़े के साथ कहूं, मेरा नाम है, श्रीशरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय।"

मस्ती, भोलेपन और स्नेह की वे सजीव मूर्ति मालूम पड़ते थे। दुबला-पतला, छरहरा बदन, चांदी-से चमकते हुए उनके सिर के सफेद बाल, उन्नत ललाट, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी आंखें—उनके व्यक्तित्व की विशेषता थीं।

हिन्दी पर बात आते ही उन्होंने कहा, "तुम लोग अपने साहित्य-सम्मेलन का सभापति किसी साहित्य-महारथी को न बनाकर, राजनीतिक नेताओं को क्यों बनाया करते हो?"

मैंने उत्तर दिया, "हिन्दी में स्वयंभू कर्णधारों का एक ग्रुप है जो अपनी तबीयत से यह सब किया करता है; वरना हमारी हिन्दी में भी प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, निराला आदि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जिनपर हम गर्व कर सकते हैं।"

उन्होंने कहा, "हमारे यहां बंगाल में भी अधिकतर साहित्य-सम्मेलन के सभापति बड़े-बड़े ज़मींदार ही बनते रहे हैं, लेकिन यह बात मुझे पसन्द नहीं। जिन्हें साहित्य शब्द के वास्तविक अर्थ का ही ज्ञान नहीं, उन्हें सम्मेलन का

सभापति बनाना महज़ हिमाकत है।"

प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में एक वार बातचीत चलने पर, उन्होंने मुझसे कहा था, "वे बहुत अच्छे आदमी थे। मैं उनसे दो-तीन बार मिला हूं। उन्होंने मुझे बतलाया था कि हिन्दी में लेखकों को अधिक पैसा नहीं मिलता। बंगला में भी पहले यही हाल था। अब सुधर चला है। देखो न, साहित्य-सेवा के वल पर ही आज मैं भगवान की दया से दो कोठियां, मोटर, टेलीफोन आदि खरीद सका हूं।"

उनकी बातों से मैंने कई बार यह अनुभव किया कि उनमें स्नेह की मात्रा अधिक थी। कई बार बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझसे कहा, "देखो अम-रीत, तुम अभी बच्चे हो; फिर तुम्हारे सिर से तुम्हारे पिता का साया भी उठ चुका है। दुनिया ऐसे आदिमों को हर तरह से ठगने की कोशिश किया करती है। तुम्हारे साथ गृहस्थी है। इसीसे मैं तुमसे यह सब कहता हूं।...और इस बात को हमेशा ध्यान में रखना कि अगर तुम्हारे पास चार पैसे हों तो अधिक से अधिक तुम उन्हीं चार पैसों को खर्च कर डालो, लेकिन कभी किसीसे पांचवां पैसा उधार न लेना। यह भी मेरे उन्हीं प्रोफेसर महाशय का उपदेश है।"

शरत् बाबू के जीवन में कितने ही परिवर्तन आए। उन्हें अनेकों परिस्थितियों का सामना करना पड़ा—यह बात तो प्रायः बहुतों को मालूम है। हुगली ज़िले में उनका एक पुरखों द्वारा बनवाया हुआ मकान है; परन्तु वहां वे बहुत कम जाया करते थे। कलकत्ते में कालीघाट पर 'मनोहर पुकुर' नामक स्थान में उन्होंने अपनी एक कोठी बनवाई।

हावड़ा से बत्तीस मील दूर, बी० एन० आर० लाइन पर 'देउल्टी' स्टेशन से लगभग दो मील और आगे 'पानीबाश' नामक एक गांव है। देउल्टी स्टेशन से एक कच्ची सड़क प्रायः सीधी ही वहां तक चली गई है। आसपास दोनों तरफ से या तो खेत अथवा तलैया हैं। कच्चे-सुन्दर मकान, परचून की, करघा बिननेवाले की पान-सिगरेट, चाय-बिस्कुट आदि की दुकानें, एक पक्का छोटा-सा स्कूल, केले और खजूर के पेड़ आदि बड़े अच्छे लगते हैं। एक पगडण्डी से उतरकर सामने ही डाक्टर बाबू की सफेद रंग से पुती हुई झोंपड़ी (दवाखाना)—सामने ही से एक मेज़, एक कुरसी, एक लम्बी तिपाई और दो अलमारियां दिखाई पड़ती हैं।

दवाखाने के दोनों तरफ तलैयां हैं। यह सब कुछ देखने से आदमी सहज ही में समझ जाएगा कि यह शरत् का देश है। उससे लगभग दो फरलांग और आगे चल कर पक्का दो-मंज़िला मकान है। फाटक के ठीक सामने ही कमलों से भरी हुई एक पुष्करिणी, और बंगले के बायीं ओर विशाल 'रूपनारायण' नद बहता है। यही शरत् बाबू का गांववाला, अपना बनाया हुआ मकान है। वे अधिकतर यहीं रहना पसन्द करते थे।

उन्होंने मुझे अपनी लाइब्रेरी दिखलाई, बहुत काफी किताबें हैं।

"देखो अमरीत, यह मेरी मेज़ है। इसीपर मैंने अपनी प्रायः सभी किताबें लिखी हैं।"—बांस के डण्डे में लकड़ी का एक चौड़ा तख्ता एक कोने से पिरोया हुआ था। आरामकुर्सी पर बैठकर वह प्रायः उसीपर लिखा करते थे।

बंगले के बरामदे में 'रूपनारायण' नद के सामने ही बैठना उन्हें पसन्द था।

वह बड़े चाव और उत्साह के साथ मुझे एक-एक चीज़ दिखलाते थे।

एक बार उन्होंने बतलाया कि अपने जीवन में उन्होंने दुःख का दो बार आन्तरिक अनुभव किया है।

सन् 1910 ई० में जब शरत् बाबू रंगून में रहते थे, एक बार उनके मकान में आग लग गई। उसमें उनकी एक बहुत बड़ी लाइब्रेरी तथा अधूरा लिखा हुआ उपन्यास जलकर खाक हो गया था।

दूसरी बार सन् '15-'16 के लगभग उनकी एक और किताब नष्ट हो गई। शरत् बाबू का वह इतिहास पूरा लिखा जा चुका था, केवल एक अन्तिम पैराग्राफ लिखने को शेष रह गया था, एक दिन उन्होंने उसे पूरा कर डालने के लिए बाहर निकालकर रखा। वह सोच रहे थे कि इसकी समाप्ति किस तरह हो। उन्होंने चाय बनाई, पी, और फिर उसे सोचते-सोचते ही वह शौच के लिए चले गए।

उन दिनों उनके पास एक कुत्ता था। उसकी यह अजीब आदत थी कि सामने जो चीज़ पाता, उसे नष्ट कर डालने की चेष्टा करता था। शरत् बाबू इसी कारण जब कभी कमरे के बाहर जाने लगते, तभी उसे भी बाहर निकालकर कुण्डी चढ़ा देते थे। लेकिन उस दिन वह उसी ध्यान में सब कुछ खुला हुआ छोड़कर, ऐसे ही चले गए।

पाखाने से लौटकर उन्होंने देखा, पूरा उपन्यास टुकड़े-टुकड़े होकर कमरे में

बिखरा पड़ा था, और कुत्ता बैठा हुआ उसका अन्तिम पृष्ठ फाड़ रहा था।

यह कथा सुनाते हुए उनकी आंखों में आंसू छलछला उठे। कुछ भर्राए हुए स्वर में उन्होंने मुझसे कहा था—"अमरीत, आज भी जब उसके सम्बन्ध में सोचता हूं तब यह खयाल आता है कि वह प्रकाशित होने पर मेरी सर्वोत्तम रचना कही जाती। मैंने छह महीने में बड़ी संलग्नतापूर्वक उसे समाप्त किया था।"

मरने से लगभग डेढ़ महीने पहले मैं उनसे मिलने पानीत्राश गया था। तब वे सूखकर कांटा हो चुके थे। उन्हें संग्रहणी की शिकायत हो गई थी। जो कुछ खाते वह हज्म नहीं होता था—यहां तक कि 'क्वेकर-ओट्स' भी नहीं।

मुझे देखकर बहुत खुश हुए, कहा, "तुम्हारे आने से मुझे बहुत खुशी हुई।"

मैंने अनुभव किया, तब भावुकता की मात्रा उनमें बहुत अधिक बढ़ गई दिखाई पड़ती थी।

उन्होंने मुझसे कहा, "अब इस जीवन में मुझे और कोई भी लालसा बाकी नहीं रही। यह शरीर भी प्रायः निर्जीव ही-सा हो चुका था। मैं बहुत थक गया हूं। यमराज मुझे जिस वक्त भी 'इन्विटेशन-कार्ड' भेजेंगे मैं उसी वक्त, निस्संकोच जाने के लिए तैयार बैठा हूं।"

थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहने के बाद वे बोले, "इच्छा होती है कि जलवायु के परिवर्तन के लिए मैं बंगाल छोड़कर बाहर जाऊं। लेकिन किसी एक जगह जमकर रहने की तबीयत नहीं होती। सोचता हूं ट्रेन ही ट्रेन में घूमूं। अधिक से अधिक हरएक जगह एक-एक, दो-दो दिन ठहरता हुआ।"

मैंने कहा, "यह तो शायद आपके लिए, इस वक्त ठीक न होगा। आप बहुत कमज़ोर हो रहे हैं।"

उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। चुपचाप आंखें बन्द किए हुए कौच पर लेट-से गए।

लौटते समय, शाम को जब मैं उनके चरण चूमकर, स्टेशन जाने के लिए पालकी पर बैठने लगा, वे बोले, "ठहरो अमरीत, मैं तुम्हें इस वक्त 'रूपनारायण' की शोभा दिखलाना चाहता हूं।"

पालकी से उतरकर मैं उनके साथ उसके किनारे तक गया।

आकाश में तारे छिटक रहे थे। उस दिन शायद पूर्णिमा भी थी।

हाथ का इशारा कर वह मुझे बतला रहे थे, "जब बाढ़ आती है, पानी मेरे बंगले की सतह को छूता है, तब मुझे बहुत अच्छा मालूम होता है।"

कौन जानता था, उस दिन अन्तिम बार ही, 'रूपनारायण' के तट पर खड़ा हुआ मैं उस महान् कलाकार के व्यक्तित्व का दर्शन रहा कर था।

[1938]

रससिद्ध कवीश्वर : सनेही जी

अखबारों में आचार्य सनेही जी के अस्वस्थ होकर अस्पताल में भरती किए जाने का समाचार पढ़ा। जी चाहा कि जाकर उनके दर्शन कर आऊं पर 'गृह कारज नाना जंजाला' में फंसकर घर से दो कदम दूर कानपुर तो न जा पाया, हां कार्यवशात् दो दिनों के लिए दिल्ली ज़रूर पहुंच गया। मनोहर श्याम जोशी ने कहा, "आप तो इतने पास रहते हैं, एक दिन हमारे लिए सनेही जी से मिल आइए।" सुनकर लगा कि नई पीढ़ी मेरी मलामत कर रही है। कवि न होने पर भी पूज्य सनेही जी महाराज ने मुझे स्नेह प्रदान किया है। हिन्दी-भाषी समाज के प्रति उनके बड़े उपकार हैं। आधुनिक विराट कवि-सम्मेलनों की परम्परा के इस बाबा आदम ने हमारे जनसाधारण के मानस को न केवल राष्ट्रवादी भावधारा ही से आप्लावित किया बल्कि खड़ी बोली की कविता को भी प्रतिष्ठा दिलाई। 'सुकवि' सम्पादक के रूप में सनेही जी ने उन दिनों सुकवियों की एक अच्छी-खासी बटालियन ही अंग्रेज़ों और हमारे अज्ञान से मोर्चा लेने के लिए खड़ी कर दी थी। सनेही-त्रिशूल के गीत राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में निकलनेवाली प्रभात-फेरियों में खूब गाए जाते थे।

वाग्देवी ने मुझे कवि होने का वरदान नहीं दिया। इस कमी को मैंने कविता का पाठक और श्रोता बनकर पूरा किया है। पढ़ने का शौक मुझे बचपन से ही है, अकेले में सस्वर काव्य-पाठ करने में मुझे बड़ा आनन्द मिलता था। एक समय में अनेक अच्छे-अच्छे कवियों की अनेक रचनाएं मुझे याद भी थीं। पूज्य सनेही जी की एक बहुत पुरानी कविता 'अशोक वाटिका में सीता' की कुछ पंक्तियां इस समय भी याद आ रही हैं :

"मनोहर लंकपति की वाटिका थी,
प्रकृति रंगस्थली की नाटिका थी।

महा छवि जाल फूलों के चमन थे,
उलझते भौंर-से जाकर नयन थे,
घटा घनघोर घिरती आ रही थी,
हरित छवि हर दिशा में छा रही थी।

सखी ने जब कहा, घनश्याम आए,
नयन खोले समझ कर राम आए,
जिधर देखा उधर ही श्याम छवि थी,
हृदय में भरी श्रीराम छवि थी।"

इसी तरह कर्ण की मृत्यु पर दुर्योधन के विलाप वाली उनकी कविता की कुछ पंक्तियां भी मुझे अब तक याद हैं :

"नभ असित धरा पै काल-सा छा रहा था,
रविरथ द्रुतगामी भागता जा रहा था।
खग मृग अकुलाए भीत-से हो रहे थे,
शिव-अशिव कुवाणी बोलते रो रहे थे।"

पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, यह नाम हिन्दी-भाषी क्षेत्र में विशाल जन-समूह वाले कवि-सम्मेलनों की परम्परा के महान् संस्थापकों में शीर्षस्थ है और अमर भी। अपने लोकप्रिय 'सुकवि' पत्र के द्वारा भी जन-मन में खड़ी बोली के संस्कार जगाने और नई-भाव चेतना प्रतिष्ठित करने में श्रद्धेय सनेही जी प्रातः स्मरणीय आचार्य द्विवेदी जी महाराज के कमाण्डर-इन-चीफ रहे हैं। सनेही जी के नेतृत्व में होनेवाले पुराने कवि-सम्मेलनों में, जन-समुद्र की एक बूंद बनकर, उन्हें देखने-सुनने का मुझे अनेक बार सौभाग्य-लाभ हुआ था। उस समय की जन-धारणा यह थी कि आचार्य सनेही जी जिस कवि-सम्मेलन में अपनी नवरत्नवत् शिष्य मण्डली लेकर पहुंच जाएं, वहां फिर और कोई पहुंचे या न पहुंचे रसगंगा बहेगी ही।

आचार्य का त्रिशूल रूप, भी किसी अगले ज़माने में सही समाजवादी दृष्टि-कोण से लिखने वाला जन-साहित्य का कोई इतिहासकार अवश्य ही बड़े आदर से याद करेगा, भले ही आज की बौद्धिक अराजकता में उसे भुला दिया गया

हो। प्राणवन्त भावों और शब्दों का सोमरस पिलाकर त्रिशूल जी ने हज़ारों-लाखों लोगों को स्वतंत्रोन्मत्त देशभक्त बनाया था। त्रिशूल जी के अनेक गीत आन्दोलन-काल की प्रभात-फेरियों में गाए जाते थे। सन्' 24 में 'माधुरी' के तीन अंकों में उनकी एक लम्बी कविता 'आईन ए हिन्द' प्रकाशित हुई थी, जो हिन्दी के साथ ही साथ उन्हें उर्दू शैली के कवियों में भी उच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। 'आईन ए हिन्द' पढ़कर मन आज भी फरहरा हो उठता है। अपनी इस कविता को उन्होंने तीन खण्डों में बांटा है: हम पहले क्या थे, हम अब क्या हैं, और आगे क्या होने वाले हैं। अपना लोभ संवरण न कर पाने के कारण हर प्रश्न-विभाग के कतिपय अंशों को यहां उद्धृत कर रहा हूं:

वे भी दिन थे कभी, दम भरती थी दुनियां अपना,
था हिमालय की बलंदी पे फरेरा अपना।
रंग अपना था जमा, बैठा था सिक्का अपना,
कोई मैदां था, वहां बजता था डंका अपना।

हमसरी के लिए अपनी कोई तैयार न था,
काम अपने लिए कोई, कहीं दुश्वार न था!

खुशबयां ऐसे थे, जादू का असर रखते थे,
कोई फ़न बाक़ी न था, इल्मों हुनर रखते थे।
हम किसी का न कभी खौफ़ो खतर रखते थे,
दिल बला का, तो क़यामत का जिगर रखते थे।

कोई शमशेरो-कलम में न था सानी अपना,
पानी पानी हुए दुश्मन, वो था पानी अपना।

दफ़अतन् रंग ज़माने का कुछ ऐसा बदला,
भाई भाई से भिड़ा बाप से बेटा बिगड़ा।
ख़ानाजंगी से हुई घर में क़यामत बरपा,
एक को दूसरा खा जाने को तैयार हुआ।

तीन तेरह हुए जब हिंद में यों फूट पड़ी,
सारी दुनियां की मुसीबत भी यहीं टूट पड़ी।

छाई गफ़लत, तो उसे मुल्क ने मस्ती समझा,
चीज बेहद जो गरां थी, उसे सस्ती समझा।
होता बीरान गया बसती है बस्ती समझा,
पस्त होता गया लेकिन नहीं पस्ती समझा।

ग़ार में जाके पड़ा अब है निकलना मुश्किल,
ऐसा बीमार है, जिसका है संभलना मुश्किल।

मादरे हिंद के बच्चों पै मुसीबत आई,
गोलियां गन से चलीं, और क़यामत आई,
खोले घूंघट गए, यों ख़तरे में इज्जत आई,
हाय अफ़सोस नहीं फिर भी तो ग़ैरत आई,

उनके पैरों पे रही, रक्खी जो पगड़ी हमने,
पेट के बल चले और नाक भी रगड़ी हमने।

क़ौम की आंखों से परदा-सा लगा हटने अब,
श्री तिलक जी जो डटे लोग लगे डटने अब।
मुल्क जब नशे में आज़ादी के सरशार हुआ,
आगे गांधी जी बढ़े, प्रेम का अवतार हुआ,
दिल में फिर पैदा स्वदेशी के लिए प्यार हुआ,
तारे ज़र फिर हमें चर्खे का कता तार हुआ।

सिक्का मलमल की जगह बैठ गया खादी का,
हर तरफ़ शोर मचा मुल्क में आजादी का।

मुतफ़िक़ होके मुक़ाबिल में जुज़ोकुल आए,
कोई भी ईजा हो मरने के लिए गुल आए।
होंगे आज़ाद यही कहते हुए गुल आए,
फूल कांटों में खिचें दाम में बुलबुल आए।

पांव रखना हुआ दुश्वार, हुआ वह रेला,
लग गया जेल में याराने वतन का मेला।...

इस त्रिशूल को भुलाकर कोई स्वाधीन राष्ट्र भला जी सकता है?

कानपुर पहुंचने पर ललित (प्रा० ललितमोहन अवस्थी) ने मुझे बताया कि सनेही जी अब पहले से काफी स्वस्थ हैं। उनका वज़न भी बारह पौण्ड बढ़ा है। वह खूब प्रसन्न हैं, कहते थे, "अब तो मैं फिर से कविता लिखने लायक हो चला हूं। ललित, इस बार त्रयोदशी के दिन हमारे जन्म-दिवस पर यहीं अस्पताल में एक कवि-सम्मेलन होना चाहिए। डाक्टर लोग बेचारे बड़े भले हैं, वे यहां सब इन्तज़ाम कर देंगे।" ये बातें सुनकर मन को बड़ा सन्तोष हुआ, लेकिन अस्पताल पहुंचने पर मालूम हुआ कि उनकी तबियत फिर पलट गई है। वह गफलत में पड़े हैं। दस्तों से कमज़ोरी बढ़ गई। कल तो सारे दिन उन्होंने आंख भी नहीं खोली थी। सनेही जी की पुत्री कृष्णाकुमारी जी के मुख पर चिन्ता की गहरी छाप थी। मैंने ललित से कहा कि एक बार दूर से उनके दर्शन करना चाहता हूं। सनेही जी के पुत्र मोहनप्यारे जी तुरन्त हमें भीतर लिवा ले गए।

महाराज सो रहे थे। आंखों पर चश्मा चढ़ा हुआ था, चेहरा निर्विकार था। यद्यपि उनका शरीर अब पहले से अधिक कृश हो गया है, तथापि चेहरे पर वही पुराना कसाव, वही रोब है।

"कल से बस इसी तरह पड़े हैं। आज तो बीच-बीच में आंखें खुलती भी हैं, पर कल सारे दिन बेहोश रहे। ग्लूकोज़ चढ़ा, इंजेक्शन लगे, और कैप्सूल भी जाने काहे के दिए जा रहे हैं।"

"कल तो आंख ही नहीं खोलीं। दस्त भए, पर इन्है जर कां हौस नहीं था। इधर ऐसे चितन्न हुइ गए रहे कि क्या बनावें। दुई-दुई पाउण्ड करि के सौलह पाउण्ड वजन बढ़ा रहा इनका।"

भाई-बहन की बातें कानों में पड़ रही थीं। पर दृष्टि सनेही जी महाराज के चेहरे पर ही टिकी रही।

चालीस-बयालीस वर्ष पहले उन्हें एक कवि-सम्मेलन में पहली बार दूर से देखा था। वह भरा-पूरा काली मूंछों वाला रोबीला चेहरा याद आया। ग्यारह वर्ष पहले उन्होंने अपने सम्बन्ध में लिखा था :

"विश्व में विचारों के विचरता रहा विवश,
बस गया वहीं पै रहा न मन बस का।

कण्ठों में विराजा रसिकों के फूलमाला हो के,
कुटिल कलेजों में 'त्रिशूल' हो के अटका।
धाराधर विपदा के बरसे सहस्त्रधार,
तो भी मेरा धीरज धराधर न धसका।
चसका वही नवरस का है 'सनेही' अभी,
टसका नहीं मैं हूं पछत्तर बरस का।"

श्रावण शुक्ला 13 के दिन वह अपनी वय के 86 वर्ष पूरे करके 87वें में प्रवेश करेंगे, पर ऐसा नहीं लगता कि वह अब भी कहीं से तनिक भी टसके हैं। मोहनप्यारे जी ने जब उनका चश्मा हटाया, तब उनकी आंखें खुल गईं। बायीं ओर नज़र गई, ललित को देखा, "अच्छा तुम आए हो।" फिर उधर दृष्टि घूमी बहन जी ने उनके कान के पास मुंह ले जाकर कहा, 'नागर जी आए हैं।"

"हूं। पहचान लिया।" चेहरे पर स्नेह-स्निग्धता आई। अपने काले बालों वाले सिर को खुजलाया फिर मेरी ओर देखने लगे, मुस्कराकर कहा, "मुझे कोई रोग नहीं है। बस, खड़ा नहीं हो पाता, पैर लड़खड़ाते हैं।"

मैंने उनके कान के पास मुंह ले जाकर कहा कि यह कमज़ोरी भी शीघ्र ही दूर हो जाएगी।

सनेही जी बोले, "कुछ समझ में नहीं आया। बिटिया की बात सुनाई पड़ जाती है। बिटिया!" बिटिया जी ने झुककर उनसे मेरी बात कही। मोहनप्यारे जी उनकी सुनने की मशीन लाए, उनके कान में लगाई, पर उनसे उन्हें लाभ न हुआ। बिटिया जी के माध्यम से ही बात आगे बढ़ी। मैंने कहा, "आचार्य द्विवेदी जी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर दौलतपुर में आपके दर्शन हुए थे।"

"हां, हम गए थे। पर द्विवेदी जी के खास चेले नहीं गए थे। हमने अपना कर्त्तव्य निभाया।" फिर रुककर कहा, "द्विवेदी जी ने बड़ी सेवा की। यह सब उन्हींका वैभव है। वह ऐसों को भी बढ़ा गए जो पद्य तो अवश्य लिख लेते थे, पर कविता नहीं लिख पाते थे। मैंने काव्य रचा है।"

आवाज़ में वही दमखम है। स्मृति अब भी चुस्त-दुरुस्त है। मूड में आकर कुछ पुराने संस्मरण सुनाने लगे। मैंने डायरी खोली तब बोले—"ये सब बातें कहीं छपा मत दीजिएगा।" कहकर हंसे। बिटिया जी के माध्यम से मैंने उन्हें

श्राश्वासन दिया। गाड़ी श्रागे बढ़ी।

श्रपने दाहिने हाथ पर बायां हाथ फेरते हुए बोले, "बीमारी-वीमारी कुछ नहीं। कल ज़रा निढाल हो गया था; बाकी श्रभी तक तो हम मालिश कराते रहे, साबुन लगाकर नहाते रहे। बीमारी क्या, बुढ़ापा बढ़ रहा है।···होता ही है।···" फिर श्रांखों में चमक श्राई, चेहरा खिला, कहने लगे, "वेणीमाधव खन्ना पुरस्कार मिला करता था उन दिनों। एक बार निर्णायक कमेटी में टण्डन जी थे, हम थे श्रौर···श्रौर···" तीसरा नाम याद न श्राया। थोड़ी देर तक श्रपनी स्मृति से उलझते रहे, फिर श्रागे बढ़ गए, "तीन ही कवि भी थे जिनकी कविताश्रों का निर्णय होना था। शंकर जी—नाथूराम शर्मा 'शंकर,' हमारे श्रनूप थे, श्रौर राधावल्लभ 'बन्धु' थे। टण्डन जी ने कहा कि सिद्धान्त की बात है, शंकर जी को पुरस्कार मिलना चाहिए। खैर, मिल गया। फिर श्रनूप ने हमसे कहा कि निर्णायकों को कविता का ज्ञान नहीं है। हमने कहा कि पन्द्रह दिनों में तुमसे श्रच्छा कवि बना सकते हैं। श्रौर हमने जो कहा सो कर दिखलाया। हितैषी को बना दिया।···वैसे श्रनूप भी श्रच्छे कवि थे। उनके पिता भी श्रच्छे कवि थे। श्रनूप मिडिल स्कूल में पढ़ते थे। मुंशी कृपादयाल निगम उन्हें लेकर हमारे पास श्राए थे। घनाक्षरियां श्रच्छी लिखीं श्रनूप ने। हितैषी भी बहुत मांजकर लिखते थे। दोनों तगड़े थे। दोनों ही हमारे सामने चले गए।"

ललित ने उठकर उनके कान में कहा, "श्रब श्रापके जन्म-दिवस पर यहां कवि-सम्मेलन होगा।"

'हां।···श्रच्छा है।···डाक्टर सब बड़े भले हैं बेचारे। सरकार ने हमारा यह प्रबन्ध करके बड़ा उपकार किया।···हितैषी सौ रुपया महीना बंधवा गए थे सो वह भी श्राता है।"

मैंने कहा, "देश पर श्रापके इतने उपकार हैं कि उनको देखते हुए श्रापको मिलनेवाली ये सुविधाएं नगण्य-सी लगती हैं।" सुनकर चुप हो गए, चेहरे पर सन्तोष श्राया।

हम लोग काफी देर बैठे। एक बार उठना चाहा, तो बैठा लिया फिर पुराने संस्मरण चले। श्रपने पुरबले जनम के न जाने किस पुण्य के कारण मुझे भी कवि-गुरु का सहज स्नेह प्राप्त हो गया है। जब कभी दर्शन पाए, सदा उनसे स्नेह, ज्ञान श्रौर प्रेरणा की प्रसादी लेकर ही लौटा। वे बीसवीं सदी में होने वाले हिन्दी

साहित्य के विकास के जीवित इतिहास हैं। यदि उनके आसपास रहने वाले समझदार नौजवान उनसे पुरानी बातें सुनकर लिख लें तो हमारे इतिहास की बहुत-सी बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित हो जाए। सनेही जी की स्मरणशक्ति अद्भुत है। कानपुर के कोई धनी हिन्दी प्रेमी यदि लगन के साथ उन पुरानी बातों को टेप पर रेकार्ड करा लें तो और भी अच्छा हो।

हमारे निराला जी भी सनेही जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। एक बार उत्तर प्रदेश सरकार की एक शिक्षा फिल्म डाक्यूमेंटरी के लिए, तत्कालीन शिक्षा प्रसार अधिकारी और सुकवि श्री द्वारकाप्रसाद माहेश्वरी निराला जी के कविता पाठ का सवाक् चलचित्र बनाने की इच्छा से मुझे और डा० रामविलास शर्मा को सिफारिश कराने के लिए उनके यहां ले गए। हमारी प्रार्थना पर आशुतोष निराला जी कृपापूर्वक सदय भी हुए। तब अपनी कविताओं के अलावा उन्होंने विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और बहादुरशाह ज़फर की रचनाओं के बाद सनेही जी की एक कविता भी सुनाई थी।

पूज्य सनेही जी महाराज 86 वर्ष के नौजवान हैं। वे पुराने भारत की सदा-बहार जवानी के जीते-जागते रहस्य हैं। इस बीमारी में भी वही तेवर, वही दमखम और मुस्कराहट उनके व्यक्तित्व की दिव्य शोभा बनी हुई है। पांच वर्ष पूर्व आचार्य द्विवेदी जन्मशती-समारोह के अवसर पर मैंने दौलतपुर में उनके दर्शन किए थे। शाम को पंडाल के बाहर टहलते हुए उन्होंने एकाएक मेरी ओर घूमकर कहा, "आपने जब मुझे अस्पताल में देखा था तब भी मैं मुस्करा रहा था और देखिए, अब भी मुस्करा रहा हूं।" इस बार फिर अस्पताल में ही भेंट हुई, लाख लट चुके हैं मगर मुस्कराहट अब भी जवान है। उनकी अपराजेयता उनका यह 'धीरज धराधर' अब भी अडिग है।

[1969]

गढ़ाकोला में पहली निराला जयंती

वसन्त पंचमी के अवसर पर प्रयाग गया था। निराला जी कठिन बीमारी भोगकर उठे थे, सोचा कि इस वर्ष उनके साथ ही उनकी जयन्ती मना लूं। अगले वर्ष यह अवसर आए कि न आए। निराला जी दुर्बल होने पर भी स्वस्थ थे, खूब मग्न थे। लोग पैर छू-छूकर उन्हें हार पहनाना चाहते थे और नउआ उनकी दाढ़ी बनाते हुए अपना महत्त्व जतलाकर अपने-अपने हारों को निराला जी के चरणों पर रखने के लिए अच्छों-अच्छों को बड़ी शान से आदेश दे रहा था।

इस बार फिर वसन्त पंचमी आई—निराला जी के निधन के बाद पहली वसन्त पंचमी। पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले, जगह-जगह निराला परिषदों का उद्घाटन किया गया, बड़े हो-हल्ले हुए। मरने के बाद दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में भी निराला जी की आरती उतारी गई।

वसन्त पंचमी से छः-सात दिन पहले गढ़ाकोला ग्राम से निराला जी के भतीजे श्री बिहारीलाल त्रिपाठी और उनके अन्य दो-चार सगे-सम्बन्धी मेरे यहां आए। वे लोग गढ़ाकोला में निराला जयन्ती मनाना चाहते थे, और इस तौर-तेवर के साथ आए थे कि लाट साहब को वहां ले चला जाए। उनमें से एक बन्धु तो अपने भोलेपन में पूरी स्कीम बखान गए। बोले, "हमने पहले विचार किया कि सीधे लाट साहब के पास चलें। निराला जी के नाम पर 'ना' तो वे कर ही नहीं सकते, और करते भी तो हम कहते कि हम पत्रों में आपकी आलोचना करेंगे। अपनी आलोचना से तो सभी घबराते हैं, सो वो राज़ी हो जाते।"

मुझे लगा कि ये लोग निरे भोलेपन में अपनी अहंता को तुष्ट करने के लिए निराला जी रूपी लाठी के द्वारा बड़े-बड़ों को हांककर अपने गरब-गुमान के बाड़े में बन्द कर लेना चाहते हैं।

बिहारीलाल जी ने अधिक समझदारी की बातें कीं। कहने लगे, "निराला काका हमारे भी तो थे। हम लोग गरीब हैं, पर यथाशक्ति अपने यहां भी निराला काका का उत्सव मनाना चाहते हैं। आप जैसा कहेंगे, वैसा करेंगे।"

मैंने कहा, "इस साल तो किसी भव्य आयोजन के लिए समय नहीं रहा। आप लोग सीधे-सादे ढंग से निराला जयन्ती मना लें। अगले वर्ष कोई बड़ा आयोजन कीजिएगा।"

वे लोग इस बात पर राज़ी हो गए। तय हुआ कि मैं वसन्त पंचमी के दिन सुबह पहली बस से पुरवा पहुंच जाऊं। वहां से वे लोग मुझे गढ़ाकोला ले जाएंगे।

सुबह साढ़े आठ-नौ तक बस पुरवा पहुंच गई। चुनाव के दिन थे ही। बस के अड्डे के पास ही हलवाइयों की दुकानों के अलावा कांग्रेस और जनसंघ की चुनाव-दुकानें भी खुली हुई थीं। लाल, पीली, सफेद टोपियां नज़र आ रही थीं। लाउडस्पीकर पर 'ये कहानी है दीये की और तूफान की, निर्बल से लड़ाई बलवान की' वाला फिल्मी रेकार्ड बड़े ज़ोर-शोर से बज रहा था।

हम बस से उतरे। वहां सब कुछ था, मगर गढ़ाकोला पार्टी के लोग कहीं नहीं दिखलाई पड़े। आध घंटे के बाद आखिर बिहारीलाल जी दो अन्य व्यक्तियों के साथ साइकिलों पर आ पहुंचे। उन्हें देखकर जान में जान आई। तभी एक दूसरी समस्या उपस्थित हुई। बिहारीलाल जी ने किसीसे बैलगाड़ी का प्रबन्ध किया था। ऐन समय पर लढ़ापति ने लढ़ा देने से इंकार कर दिया। पुरवा में दो-तीन इक्के तो अवश्य खड़े थे। पर वे चुनाव के दिनों में एक खादीधारी-नेतानुमा व्यक्ति को गढ़ाकोला ले जाने के लिए पांच रुपये मांग रहे थे।

बिहारीलाल जी बड़े शशोपंज में पड़े।

मैं स्वयं भी थोड़े रुपये लेकर ही घर से चला था। इसलिए एक ओर के पांच रुपये रेट पर राज़ी न हुआ।

अब क्या किया जाए! सामने तीन साइकिलें ही नज़र आ रही थीं।

साइकिल चलाना मैं वाजिब ही वाजिब जानता हूं। तीस-पैंतीस साल पहले अपने साइकिलधारी मित्रों के दबाव से मैंने यह करतब सीखा था। उन दिनों मैं बहुत मोटा था। इसलिए साइकिल जैसी सवारी मुझे नापसन्द थी। केवल दोस्तों के साथ सैर करने के लिए कभी-कभी मजबूरन उसका प्रयोग करना पड़ता था।

किसी फुटपाथ के सहारे साइकिल पर सवार होकर जाया करता। जब उतरना होता तो साइकिल को झुकाकर उतर पड़ता। सन्' 37 में एक बार मैं साइकिल से गड़बड़ाकर ताज़ा कोलतार पड़ी हुई सड़क पर गिर पड़ा था। तब से फिर कभी साइकिल पर चढ़ने का नाम तक न लिया।

लेकिन यहां साइकिल के अलावा और कोई साधन ही नज़र न आया। सोचा कि बजरंग बली का नाम लेकर अब इसीपर चढ़ा जाए। जो होगा सो देखा जाएगा।

एक जगह टांग उछालने-भर का एक ज़रा ऊंचा-सा मिट्टी का ढूह था, उसके सहारे साइकिल पर सवार हो गया। कच्ची बलुहा सड़क पर नहर के किनारे किनारे हम चल पड़े। रास्ते-भर मनाते चले जा रहे थे कि हे रामजी, कहीं लद्द से गिर न पड़ें जिससे हमारी हंसी उड़े।

गांव अब आध-पौन मील ही दूर रह गया था। तभी एक और विकट समस्या आई। सामने छः-सात बैलगाड़ियां एक पंक्ति में चली जा रही थीं। सोचने लगा इनसे बचकर कैसे निकलूंगा। साथी भी शायद मेरी परिस्थिति को समझ गए। आगे बढ़कर लढ़ेवालों को एक ओर हो जाने के लिए हुल्लड़ मचाने लगे। पर वहां जगह ही न थी। मैं उतर पड़ा। उन लोगों से कहा, "आप लोग चलिए। हम और बिहारीलाल जी पैदल आते हैं।"

अपनी साइकिल मुझे दे देने के कारण बिहारीलाल जी एक साइकिल के कैरियर पर बैठकर आ रहे थे। इससे उनकी भी हड्डी-पसलियां बोल गई थीं।

हम दोनों ही पैदल चलकर बड़े सुखी हुए। राह चलते बातें होने लगीं। पता लगा कि शिवधारी त्रिपाठी के चार लड़के हुए : गयादीन, जोधा, रामसहाय और रामलाल। गयादीन के दो लड़कियां हुईं। जोधा के बदलूप्रसाद हुए। रामसहाय के सूर्यकुमार, और रामलाल निःसन्तान मरे। सूर्यकुमार बाद में अपना नाम बदलकर सूर्यकान्त हो गए और कवि होने के कारण उन्होंने निराला उपनाम धारण कर लिया। बदलूप्रसाद के चार बेटे हुए : बिहारीलाल, रामगोपाल, केशवलाल और कालीचरण। सूर्यकान्त के पुत्र रामकृष्ण और बेटी सरोज हुई। बिहारीलाल भाई ने मुझे बतलाया था कि भाइयों-भाइयों में कुछ कहा-सुनी हुई तो रामसहाय बाबा खेत में खुरपी गाड़ के गांव से चले गए। वे ऊंचे पूरे व्यक्ति थे। कलकत्ता-पुलिस में उन्हें नौकरी मिल गई। होते-करते जमादार

हो गए। फिर हुवां लाट साहेब के मन चढ़ गए और उनकी अरदली में चले गए। "लाट साहेब हमेशा रामसहाय बाबा को अपने साथ-साथ रक्खैं। तो एक बार महिसादल महराज के हियां लाट साहेब गए। महिसादल महराज ने रामसहाय बाबा को देखा तो लाट साहेब से कहा कि इन्हें हमें दे दीजिए, हमारे यहां ऐसा कोई जमादार नहीं है। लाट साहब ने उन्हें दे दिया। रामसहाय बाबा महिसादल में रहने लगे। फिर साल-भर बाद रामलाल बाबा भी वहीं चले गए।"

बंगाल की महिषादल स्टेट में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के पहुंचने की एक कथा मैं लखनऊ में भी सुन चुका था। यहां रामकृष्ण मिशन में एक संन्यासी रहते थे। उनका पूर्व नाम था काशीनाथ मालवीय। मिशन के पत्र 'समन्वय' का सम्पादन-कार्य निराला जी के बाद उन्हें ही सौंपा गया था। मालवीय जी उनके पुराने मित्रों में से एक हैं। उनके कथनानुसार, "महिषादल की एक विधवा रानी थी। उनका पुत्र बहुत पहले हीं मर चुका था। एक दिन एक संन्यासी आया और कहने लगा कि घबराओ मत, तुम्हारा पुत्र नये रूप में तुम्हें अवश्य मिलेगा। उसका पुनर्जन्म हो चुका है, और वह तुम्हारे पास आएगा। इसके कुछ काल बाद ही एक संन्यासी नवयुवक महिषादल पहुंचा। रानी को यह विश्वास हो गया कि वही उनका पुनर्जन्म प्राप्त पुत्र है। उन्होंने आदरपूर्वक उसे वहीं रोक लिया, और गद्दी पर बिठाया। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण था, इसलिए उसके राजा होने पर अनेक कन्नौजिया ब्राह्मण वहां आकर बस गए।"

सरसों स्वर्ग की लक्ष्मी की तरह खेतों में अन्तरिक्ष से अन्तरिक्ष तक छाई हुई थी। दायें-बायें जिधर भी दृष्टि घूमती सरसों का पीलापन मन को बांध लेता था।

हम लोग नहर के दाहिनी ओर मुड़े। पेड़ों के झुरमुट के पार मन्दिर का कलश चमक रहा था। यही गढ़ाकोला था। मन में एक कुरकुरी-सी दौड़ गई। ग्राम गढ़ाकोला, पोस्ट चमियानी, ज़िला उन्नाव को निराला जी अपनी कहानी 'चतुरी चमार' में सदा के लिए अमर कर चुके हैं। सच तो यह है कि गढ़ाकोला मेरे मन में निराला जी के गांव से अधिक चतुरी चमार के गांव के रूप में बना हुआ है। यहां आते ही 'कालिका नाऊ' और 'चतुरी चमार' की याद आने लगी। कलाकार का बड़प्पन इसीमें है कि उससे अधिक पाठकों को उसके पात्रों की याद आए।

मुझे अच्छी तरह से याद है। 'सुधा' में जब पहली बार चतुरी चमार पढ़ा था तो मेरे मन को एक विचित्र ताज़गी मिली थी। प्रेमचन्द के अनेक ग्रामीण और छोटी कौम के पात्र मन को प्रभावित करते थे,—तब भी और अब भी। प्रेमचन्द जी के उन पात्रों को पढ़ते समय ऐसा लगता था कि मानो सिनेमा दृश्य में उन्हें देख रहा हूं। लगता था जैसे चतुरी ऐसे लोग सामने ही खड़े हों। हो सकता है कि मुझपर यह प्रभाव निराला जी की संगत के कारण पड़ा हो। 'देवी', 'चतुरी चमार', 'सुकुल की बीवी', 'कुल्ली भाट', 'राजा साहब को ठेंगा दिखाया' आदि निराला जी की ऐसी रचनाएं हैं जिन्हें पढ़ते समय यह नहीं लगता कि हम कोई गढ़ा हुआ किस्सा पढ़ रहे हैं। लेखक इन रचनाओं में अपनेपन का स्पर्श देता है। ये कहानियां अथवा रेखाचित्र दरअसल संस्मरण के रूप में ही अधिक उभरकर आते हैं।

खेत पृष्ठभूमि में छूट गए। बस्ती आने लगी। मिट्टी के कच्चे घर, उनमें भी अधिकांश खण्डहर, गलियां बीच में धंसी और गड्ढों से भरी हुई, घरों के सामने कई जगह मच्छरों के गुच्छों से आच्छादित नाबदान, कहीं गाएं, कहीं बैल और कुत्ते।

गलियों में चक्कर लगाते हुए हम एक मकान के सामने आ खड़े हुए। पुरानी नक्काशी वाले द्वार पर एक कागज़ चिपका था। उसपर लिखा था : 'महाप्राण निराला स्मारक भवन'। मैंने बिहारीलाल जी से कहा, "घबराइएगा मत। आपका यह कागज़ संगमर्मर से अधिक टिकाऊ सिद्ध होगा।"

वह बेचारे कुछ समझे नहीं, झेंपकर बोले : "क्या करें पंडित जी, अपने मन का हौसला पूरा कर लिया। नहीं तो जौन आप संगमर्मर के पत्थर की बात कर रहे हैं, वहै हमरेउ मन मां रही। आज तो निराला काका सबके हैं पर एक दिन रहा जब निराला काका हमरेहे-हमरेहे रहे। इनफ्लुइंजा में हमारे बाप-महतारी मर गए। हम नान्ह-नान्ह रहे। निराला काका चक्की पीसें, हमका बनाय के खवावें, हमका पालें। रामकेसन होरे तौ उलमऊ मां रहत रहें नाना के हियां, औ निराला काका हमारे पास रहैं। काकी हमारी गुजर गई रहैं तो इन्हैं ब्याह के लिए बहुत लोग घेरें, बहुत देखुआ आवें। एक बाजपेई जी रहे। उइ आए औ कहै लगे, 'महाराज, आपकी कुण्डली मां दूसर विहाव लिखा है।' काका कहिन, 'अरे जब हमहें न करब तो कहां ते होई। हमरे चार लरिकाई आयं औ

रामकेसन औ बिटेवा आय। हम इनहीं का नहीं पाल सकति हयि। तुम हमका ब्याह करै के लिए कहत हौ।"

अपनी जन्मपत्री के ग्रह-नक्षत्रों को निराला जी ही पछाड़ सकते थे। अनेक लोगों ने अनेक बार उनकी कुण्डली देखकर बताया है कि दूसरा विवाह लिखा है, पर जब निराला जी ही नहीं करना चाहते थे तो ग्रह-नक्षत्रों की हस्ती ही क्या थी जो उनका विवाह करवा सकते। एक बार जब उनकी बेटी सरोज से उनकी जन्मपत्री फट गई तो निराला जी उसे गंगा जी में प्रवाहित कर आए। कहा, "न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।"

घर के आगे दाहिनी ओर पर एक छोटी-सी खुली ज़मीन थी। वहां शामियाना लगा था, तखत पड़े थे। तखत पर एक चौकी और चौकी पर एक लोहे की कुरसी रखी हुई थी। मैंने बिहारीलाल जी से लखनऊ में कहा था कि निराला जी का चित्र ले आऊंगा। अनेक वर्षों पहले मेरे छोटे भाई प्रख्यात चित्रकार मदन लाल नागर ने प्रयाग जाकर निराला जी का एक छोटा तैल चित्र बनाया था। उसके आधार पर फिर एक बड़ा तैल चित्र भी उसने बनाया जो अब लखनऊ महापालिका के संग्रहालय में सुरक्षित है।

छोटा चित्र अनेक वर्ष हुए निराला जयन्ती के अवसर पर एक कवि महोदय मुझसे मांगकर ले गए थे। फिर उन्होंने उसे लौटाया ही नहीं। मैंने बिहारीलाल जी को वही चित्र ला देने का वचन दिया था। कवि बन्धु के यहां से चित्र तो खैर मैंने किसी तरह मंगवा लिया, पर राम जाने उन्होंने उसे कहां सीलन पानी में डाल रखा था कि तस्वीर पूरी तौर पर नष्ट हो गई थी।

बिहारीलाल जी ने उसी चित्र की आशा में यह सिंहासन सजाकर रखा था। पर अब क्या हो। एक सज्जन बोले, "धर्मयुग में निराला जी का चित्र है। उसे ही काटकर किसी लकड़ी के तख्ते पर चिपका दिया जाए।"

'धर्मयुग' का अंक आया। किसी विद्यार्थी की पट्टी आई। किसीने किसीको लेई बनाने का हुकुम दिया। मैंने कहा, "उसकी आवश्यकता नहीं। धर्मयुग से चित्र को फाड़ने की आवश्यकता नहीं, डोरी ले आइए। सरसों के फूल ले आइए। काम बन जाएगा।"

मैंने पट्टी पर धर्मयुग के पन्ने उलटकर वह चित्र बांधा, सरसों के फूल चारों ओर से इस तरह से खोंसे कि उनका फ्रेम बन गया। गेंदे के फूल भी आ गए।

उन्हें बीचोंबीच में सजाया। ऐसी शोभा ग्रा गई कि क्या कहूं।

बिहारीलाल जी ने अपनी शक्ति-भर बड़ा आयोजन किया था। आसपास के गांवों में लोगों को न्यौता भिजवाया था। झंइयम-झंइयम बाजा भी मंगवाया था। ऐसा लगता था कि जैसे रामसहाय त्रिपाठी के घर आज ही सूर्यकुमार का जन्म हुआ हो। मगरायर ग्राम के एक युवक ने कहा भी कि आज निराला जी की पहली जन्मगांठ है। एक तरह से यह भी सच था। उनके गांव में यह पहला ही जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। निराला जी पैदा बंगाल में हुए, इसलिए उनके जन्मोपलक्ष्य में जो कुछ भी खुशहाली हुई होगी, वह महिषादल में ही हुई होगी।

शामियाने के नीचे, बल्कि यों कहूं कि उसके बाहर एक पुरुष बैठे थे। किसी ने बताया कि वे चतुरी के भतीजे भगवानदास हैं। उनकी आयु बकौल उनके पांच ऊपर सत्तर थी। मैंने पूछा, "पण्डित जी जब पहली बार बंगाल से गांव आए तो उनकी क्या उमर थी?"

भगवानदास बोले, "कनिया मां रहे, तब दुई एक दांई आए रहैं। बाकी ग्यारा-चौदा बरस के रहे तब उइ हियां आए। बारा-बारा 'ग्यांद' खेलैं।" इस-पर महावीर नाम के एक सज्जन बोले, "गोली दिन-दिन भर ख्यालैं। वे पांचों उंगलियों से अलग-अलग गोली मार लेते थे।"

भगवानदास जी का भाव उमड़ रहा था। कहने लगे, "पण्डित जी, हम पंचन का इतना मानत रहैं कि अपने परिवरहन न मानैं और फिर जब उइ बड़े हुइगे हियां आवें तौ हम पंचै उनका छाड़ि कै और कौनौ काम नहीं किहिन। कुस्ती लड़ावें का बहुत सौक रहा। सबका एक-एक लंगोटा बनवाइन।"

राष्ट्रीय आन्दोलन में निराला जी ने अपने गांव के ज़मींदार के अत्याचारों के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन चलाया। श्री गयाप्रसाद, श्री भगवानदास, श्री महावीर एक में एक बात जोड़कर सुनाने लगे: "मिटिन होत रहै। एक मीटिन निराला जी कराइन, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आए रहे। देबिन के पास तंबू गाड़ि के मीटिन भै। वहु जमाने मां लगान अदाई तौ होति न रहै, तौन रैयतु मारी-पीटी जाए, वही जमाना मां दुई-चार पिटवाएगे, तौन निराला जी रिसायगे, किसान संगठन कहाइन पूरे गांव जमीनों का इस्तीफा कराय दिया—दुई-चार लोग चाहे न किहिन होय बाकी सब किहिन। साल-भर जमीन परती पड़ी

रही।"

निराला जी के आन्दोलनकारी रूप की कल्पना तो मैं सहज ही कर सकता था। चतुरी चमार में उन्होंने उन दिनों का ब्यौरा दिया है। अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज़ को उठाए बिना—निराला जी रह ही नहीं सकते थे।

सरोज के विवाह की निराली कथा भी सुनी। पण्डित गयाप्रसाद जी गांव के उन व्यक्तियों में से हैं जिन्हें निराला जी अपना मित्र मानते थे। उन्होंने बतलाया, "सरोज के वर (शिवशेखर जी) गांव में ही मौजूद थे। निराला जी ने अपनी बेटी का विवाह उन्हींसे कर देने का निश्चय मन ही मन कर लिया था। एक दिन सबेरे हम ते कहिन कि चलौ गया परसाद कानपुर। सामान लाना है। आज हमारे हियां बरात आई। कानपुर तें फल धोती सब समान लाए। गूलर की डाल गाड़ी गई। मगरायर ते नन्द दुलारे बाजपेई आए, राधारमन आए। निराला जी पण्डित बुलाइन। कहा, 'मन्त्र पढ़ौ। सरोज केर सादी आय।'

"पण्डित बोले, 'ऐसे कैसे सादी होइ है ?"

"निराला जी बोले, 'तुम्हें क्या मालूम, कितने प्रकार के विवाह होते हैं। जैसा मैं कहूं वैसा करो।'

"बस बिहाव होइगा।"

अवधी के एक तरुण कवि सूरज प्रसाद द्विवेदी निराला जी द्वारा बीघापुर स्टेशन पर लालमणि जी को थाल-भर बर्फी खिलाने का किस्सा सुनाने लगे। बोले, "यह बात मैंने लालमणि जी से सुनी थी और इसपर मैंने एक कौवाली भी लिखी है।"

कव्वाली का नाम सुन हमें मज़ा आ गया। सुनाने के लिए कहा। सूरजप्रसाद जी सुनाने लगे :

> "आज बर्फी मिले खाऊँ
> तो मजा आ जाए।
> और चाकू से छिलाऊं
> तो मजा आ जाए।
> दोस्तो सुन लो ये किस्सा बड़ा पुराना है।
> महाकविराज निराला को जगत माना है।

गढ़ाकोला में जन्मभूमि काव्य माना है।
रहे प्रयाग तीर्थराज मन लुभाना है।
वही दृष्टान्त सुनाऊं तो मजा आ जाए।
आज बर्फी मिले, खाऊं
तो मजा आ जाए!

आ रही गाड़ी बरेली से चली बीघापुर,
खटाखट बांट रहे थे टिकट खड़े माथुर।
प्लेटफारम में शोर गुल मचा जैसे दादुर,
दो युवक कर रहे थे बातचीत प्रेमातुर।
मित्रवर मन की बताऊं तो मजा आ जाए।
आज बर्फी जो मिले, खाऊं
तो मजा आ जाए!

सुना बातों को निराला जी मुस्कराए हैं।
दबे पांवों ही वहां से तुरत सिघाए हैं
उठा दूकान से बर्फी का थाल लाए हैं
सामने लाके रखा मृदुवचन सुनाए हैं।
अजी बैठो मैं खिलाऊं तो मजा आ जाए।
आज बर्फी जो मिले, खाऊं
तो मजा आ जाए!

देख लीला को निराला की वह लजाए हैं,
चकित होके चरण कमलों में सर झुकाए हैं।
ठान हठ थाल में ही बर्फियां खिलाए हैं
थाल लौटाते हुए दाम जो चुकाए हैं।
कलम 'सूरज' जो बढ़ाऊं तो मजा आ जाए।
आज बर्फी जो मिले, खाऊं
तो मजा आ जाए!

मगरायर के श्री रेवती शंकर शुक्ल ने निराला जी के पहलवानी के क़िस्से सुनाए। उन्होंने बताया कि गढ़ाकोला में एक रईस रहा करते थे। निराला जी से उनकी बड़ी मैत्री थी। उन्हींकी प्रेरणा से चौरसिया जी ने मगरायर में वीणा-पाणि पुस्तकालय की स्थापना भी की। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी भी मगरायर ग्राम के निवासी हैं। निराला जी तथा उनके पिता चौरसिया जी से मिलने के लिए अक्सर वहां जाया करते थे। उन दिनों निराला जी को पहलवान बनने का बड़ा जोम था। खूब कसरत करते वे और बदन बनाते थे। एक दिन चौरसिया जी से बोले, "बाबूजी, कोई जोड़ नहीं मिलती।"

चौरसिया जी बोले, "घबराओ मत। परागी पहलवान को बुलवाया है।"

"कहीं बाहर का रहने वाला है?"

"नहीं, है तो यहीं का, पर आजकल बाहर गया हुआ है।"

"तो उसे झट-पट बुलवाइए।"

उसके बाद से निराला जी परागी पहलवान से कुश्ती लड़ने के लिए आतुर रहने लगे। एक दिन चौरसिया जी ने बताया कि परागी आ गया है। निराला जी माशूक की तरह परागी पहलवान से मिलने के लिए बेचैन हो गए। चौरसिया जी ने कहा कि परागी धोबियों की गली में रहता है। निराला जी को भला सब्र कहां। पता पूछते हुए वहां पहुंच गए! कुण्डी खटखटाई। पहलवान बाहर आए। निराला जी उन्हें देखते रहे। फिर पूछा: "आप ही परागी पहलवान हैं?"

वे बोले, "हां।"

बस, फिर बिना कुछ कहे-सुने ही वहां से चले आए। चौरसिया जी से मिले। बोले, "आपके परागी को अभी देखकर चला आ रहा हूं।"

चौरसिया जी ने पूछा, "है बराबर की जोड़ कि नहीं?"

"अजी वो क्या लड़ेगा मुझसे? मुझे मालूम हो गया, यहां कोई मेरी जोड़ का पहलवान नहीं है।"

चौरसिया जी बोले, "खैर पण्डित जी, कुछ हरजा नहीं। कल लड़ तो लेना ही उससे, और कुछ नहीं तो उसका हौसला ही बढ़ जाएगा।"

निराला जी ने मगनमन 'हां' कह दिया। दूसरे दिन रुस्तमेहिन्द बने हुए झूमते-झामते अखाड़े में पहुंच गए। परागी ने एक-एक करके उन्हें चार बार पटकनी दी। दूसरे ही दिन एक मटकी घी लेकर निराला जी परागी पहलवान के

यहां पहुंचे। बोले, "पहवान, खूब लड़ते हो। ये लो, घी खाओ।"

उसके बाद परागी पहलवान से निराला जी की बड़ी दोस्ती हो गई। परागी के अलावा उस क्षेत्र में दुलारे काछी का भी पहलवानी में बड़ा नाम था। एक बार निराला जी के हौसले और चौरसिया जी के पैसे के बल पर उन दोनों का दंगल कराया गया। दुलारे काछी का बड़ा दबदबा था। लेकिन जब परागी ने उसे पछाड़ दिया तो निराला जी ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने ही कुश्ती जीती हो। परागी से बोले, "तुम्हें सोने का मेडल दूंगा।"

निराला जी और सोने का मेडल! मिट्टी का भी देते तो सोने से बढ़कर होता!

मजमे में एक चितचोर जी भी थे—पास ही के राजापुर गढेवा गांव के रहने वाले। निराला जी के इलाके में मुझे अगर चितचोर न मिलते तो मजा अधूरा रह जाता। लाखों की हैसियत से कम तो वे बात ही नहीं करते थे, और हाल बड़ा पतला था। कहने लगे कि "निराला जी हमसे बहुत कहें कि चितचोर, कविता लिखो, चितचोर कविता लिखो। पर हम कहें कि नहीं। फिर अभी हाल ही में हमने सोचा कि निराला जी हमारे बैसवारे के रतन रहे, मित्र रहे, इतना कहते रहे तो लाओ कविता लिखें। फिर क्या था नागर जी, हमने पांच कविताएं लिख डालीं। आपको पांचों सुननी पड़ेंगी।"

पांचों कविताएं चितचोर जी ने कांग्रेस के विरुद्ध लिखी थीं। ठाठ के साथ सुनाईं। फिर पूछा, "कैसी हैं?"

"अरे···!" हमने कहा, "ये कविताएं सुन लेते तो निराला जी फिर कविता लिखना छोड़ देते।"

चितचोर जी यह सुनकर बड़े सन्तुष्ट हुए। बोले, "बड़े सेर आदमी रहे निराला जी। हमारे बैसवारे के रतन रहे,—रतन आफ होल इण्डिया रहे। और तुम समझ लेव नागर जी, कि निराला जी मर तो जरूर गए, बाकी ये बताओ कि उनकी रूह कहां है।"

हमने कहा, "रूहों तक हमारी पहुंच नहीं। यह आप ही बतला सकते हैं।"

बोले, "हां, हम ही बतलाय सकते हैं। उनकी रूह कहीं नहीं गई। एक तांत्रिक ने उसको पकड़ लिया है।"

मीटिंग का समय हो रहा था। बिहारीलाल जी ने कहा कि भोजन करके उधर ही चला जाए। हम घर के अन्दर गए। दरवाज़े से घुसते ही दहलीज में एक जगह पुआल का ढेर पड़ा था। बिहारीलाल जी बोले, "काका, यहैं बैठि कै लिखत रहे। तकिया छाती तले दबाय लें, और पौढ़ें भर; लिखा करें।"

घर के अन्दर आंगन की कच्ची चहारदीवारी कई जगह से टूट चुकी थी। बड़ा खस्ता हाल था। पिछवाड़े की तरह चतुरी चमार के घर की दीवाल भी दिखलाई पड़ रही थी। निराला का घर-गांव सब कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। इस अति पिछड़े हुए गांव में कीचड़-कांदो और टूटे घरों की बस्ती देख-देखकर मेरा मन एक अजीब खिसियान से भरता जा रहा था।

हमारा मिडिल क्लास बाबू निराला को राष्ट्रपति भवन में प्रतिष्ठा दिलाने के लिए मचल रहा है। वह चाहता है कि निराला का सम्मान हो। राष्ट्रीय महा-पुरुषों में उन्हें समुचित स्थान मिले। राष्ट्रपति, मंत्री, प्रधानमंत्री, अमुक जी, तमुक जी आदि उनके यश गाएं। मैं सोचने लगा कि ये कैसी उल्टी अभिलाषा है लोगों की। कैसा निकम्मा उद्योग है उनका। निराला के ठाठ भला यों बन सकते हैं कभी!

भोजन के बाद जुलूस निकला। लोहे की कुर्सी पर चादर ढांककर उसपर निराला जी का चित्र रखकर उन्हींके वंश का एक युवक उस सिंहासन को अपने सर पर उठाए हुए आगे-आगे चला। पीछे गांव वालों का हुजूम। घंटा-शंख-घड़ियाल की ध्वनि और उसके पीछे चिमटा-झांझ-करताल-मंजीरे बजाते और गाते हुए चतुरी के भाई-बिरादरों की भगत-मण्डली। बीच-बीच में 'बोल दे निराला बाबा की जय' के नारे।

घरों से औरतें और बच्चे शोर सुनकर बाहर निकल पड़े थे। गांव के लिए इस बार की वसंत पंचमी एकदम नई होकर आई थी। मैं सोचने लगा कि महा-कवि ने अपने जीवन-काल में कभी यह कल्पना न की होगी कि उनके पुरखों के गांव में उनका ऐसा सम्मान होगा।

सन् '38 में निराला जी यहां से दुखी होकर गए थे, और फिर कभी न आए। ऊंची जाति के लोगों में दम्भ और अशिक्षा का बोलबाला था। गरीब जनता बड़ों की लाठी से बुरी तरह त्रस्त थी। जुलूस में साथ-साथ चलने वाले धमनी खेड़ा के श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र और काशीप्रसाद मिश्र दो भाई भी थे। रिश्ते में निराला

जी उनके मामा होते थे। काशीप्रसाद जी कहने लगे, "सन् अट्ठावन में हम लोग वसंत पंचमी के दिन निराला जी से मिलने के लिए इलाहाबाद गए। उन्होंने बड़ी उत्सुकता से यहां का एक-एक हाल पूछा। मैंने कहा कि एक बार फिर गांव चलिए। सुनकर मामा उदास हो गए। कहने लगे कि क्या जाएं, वहां बड़ी अशिक्षा है। मैंने कहा कि अब गढ़ाकोला और बैसवारा बहुत बदल गया है। वहां गांव-गांव में स्कूल-पाठशाले खुल गए हैं। ज़मींदारी भी खत्म हो गई है। किसान अब अपने खेतों के मालिक हो गए हैं।

"इसपर महाकवि पूछ बैठे, 'गढ़ाकोला का लगान अब कौन लेता है!'

"मैंने कहा, 'कुर्क अमीन वसूल करते हैं।'

"पूछने लगे, 'कुर्क अमीन किसके आदेश से वसूल करते हैं।'

"मैंने कहा, 'सरकार के आदेश से।'

"सरकार का नाम सुनते ही न जाने क्या हुआ कि महाकवि ने मुंह फेर लिया, और कुछ बड़बड़ाने लगे।"

दुर्गाप्रसाद कह रहे थे, "इस बार भादों में हम फिर उनसे मिलने इलाहाबाद गए थे। महाकवि यहां का सब हाल-चाल पूछने लगे। फिर हमसे कहा, 'गढ़ाकोला जैहो।'

"मैंने कहा, 'आप कहें तो चले जाई।'

"निराला जी बोले, 'हमका कौनौं गर्ज है?'

"उसके बाद हम गढ़ाकोला आए। यहां से उनके लिए आम, अमावट, खटाई सब ले गए। निराला जी को अपने बगीचे के आम बहुत ही पसन्द थे। मैंने एक आम उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'भदैला को आम आय।'

"महाकवि देखकर बोले, 'नाहीं, यौ म्याड़ पर वाले को आय।'

"उन्हें अपने बगीचे के एक-एक पेड़ के आम की पहचान थी। अन्तिम बार उन्होंने अपने गांव के आम खाए और फिर आम, अमावट और खटाई आदि लेकर अपने पुत्र रामकृष्ण के घर गए।"

कच्ची सड़क से जुलूस आगे बढ़ रहा था। अगल-बगल दोनों ओर सरसों फूली हुई थी। क्षेत्र के ब्लाक डेवलपमेंट अफसर मेरे पास आए। कहने लगे, "ये सड़क जिसपर कि आप चल रहे हैं, इसका नाम निराला मार्ग है। गांव वाले इसे

श्रम-दान से तैयार कर रहे हैं। छह मील की यह सड़क पुरवा में जाकर मिलेगी। फिर वहां से उन्नाव तक यही निराला मार्ग बना दिया जाएगा।"

उनकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि पण्डित विहारीलाल जी लपकते हुए हमारे पास आए और बायीं ओर का एक खेत दिखलाते हुए बोले, "यह खेत रामसहाय बाबा ने निराला काका के नाम से लिया था। कागज़ पर सूर्जकुमार नाम चढा है।"

जुलूस और आगे बढ़ा। निराला बाबा की जय के नारे और शंख-घंटा-घड़ियालों का नाद इस समय अपने पूरे ज़ोर पर था। किनारे पर पड़ी एक मड़ैया के आगे खड़ा हुआ एक वृद्ध बार-बार अपनी आंखें पोंछने लगा। गढ़ाकोला के एक सज्जन ने बतलाया कि यह पासी निराला जी के पास बहुत आया-जाया करता था। इसपर हठात् मेरे मन में बात आई। छोटी कौम कहलाने वाले दबे-पिसे लोग ही निराला जी के नाम पर रोनेवालों में यहां अधिक हैं। मैंने छेड़ते हुए पूछा, "यहां के ऊंची जात वालों में कितने लोग निराला जी के भक्त हैं?"

"अरे बहुत कम। ई पंचै तौ महाकवी का यादौ नहीं कर्तु हैं।"

मैं सोचने लगा कि वे लोग भला निराला को क्यों याद रखें। निराला जी ने उनकी जातिगत उच्चता को कभी स्वीकार नहीं किया। उनके झूठे धर्म को सदा लातों से ठुकराया। गरीब-मजलूमों की आवाज़ सुनी। उनके लिए ताकत-वरों से जूझे। उनके सुख-दुख में शामिल हुए, यही वजह है जो यह इतनी बड़ी भगत-मंडली इस जुलूस में ऊंची जात वालों की संख्या को मात देती हुई आगे बढ़ रही है। मुझे बड़ा अच्छा लग रहा था। शिव अपने भूतगणों के साथ ही शोभित होते हैं।

निराला बाग आ गया। यह उनके पुरखों का बाग है। कुनबे वालों ने अब उसे निराला बाग कहना आरम्भ कर दिया है। सघन अमराई के पास ही एक शामियाना तना हुआ था। उसके आगे लइया, मुरमुरे, रामदाने के लड्डू आदि लिए खोंचेवाले बैठे थे। एक पान-बीड़ीवाला और एक मिट्टी के खिलौनेवाला भी नजर आ रहा था। यहां एक नए मेले की परम्परा स्थापित हो रही थी। यहां निराला जयंती की सभा जुड़ी। भगत-मण्डली पीछे-पीछे आ पहुंची। ये लोग शामियाने के बाहर ज़मीन पर बैठ गए। मुझे लगा कि यह तो निराला जी की जीवन-भर की लड़ाई मेरी आंखों के आगे ही एक दयनीय पराजय के रूप में

परिणत हुई जा रही है। एक मिनट तक मन ही मन संघर्ष चला कि कहूं या न कहूं। पर फिर चुप न बैठ सका। मैंने कहा, "इन्हें आदरपूर्वक दरी पर बिठलाइए।"

"हां-हां, अभी प्रबन्ध होता है। पर आप देखेंगे कि ये लोग बैठेंगे नहीं। इनके मन में अब भी वे पुराने संस्कार ही जड़ें जमाए हुए हैं।"

दरी बिछी। बड़े आग्रह के साथ भगत-मण्डली को उसपर बैठने के लिए कहा गया और बड़े ही संकोच के साथ वे लोग बैठे। लेकिन बैठे शामियाने के बाहर ही। लगभग तीस-पेंतीस भगत थे। बच्चे, बूढ़े, जवान सभी मेल के। सिर्फ धोतियां ही नहीं; बल्कि एक-आध पतलून, ढीली मोहरी के पाजामे भी नज़र आ रहे थे। ढोलकिये के सिर पर रूमाल बंधा हुआ था। मजीरेदार चिमटे, झांझ, करताल और ढोलक का आरकेस्ट्रा जन्नाटे के साथ गूंज उठा।

स्वर्गीय चतुरी के जोड़ीदार पंचम भगत इस भगत-मण्डली के लीडर थे। सिर पर गांधी टोपी, कंधे पर अंगोछा, ऊंचे स्वर में हाथ बढ़ाकर पंचम भगत ने कबीर का भजन गाना आरम्भ किया।

"वहु घर हमका कोउ न बतावा, जेहि घर ते जिया आवा हो।"

तीस-पेंतीस कण्ठों से गाने की पंक्ति दोहराई जाने लगी। एक अधेड़ उम्र का भगत उठकर नाचने भी लगा। बड़ा समा बंधा। माई डियर चितचोर जी ने मुझे फिर याद दिलाया, "निराला जी की रूह यहीं है। उसे एक तांत्रिक ने पकड़ रखा है।"

मैंने भी कहा, "उस तांत्रिक साले को मार-पीटकर रूह को आज़ाद करवाइए। ये तो बड़ी खराब बात है कि आपके मित्र को मरने के बाद एक तांत्रिक की कैद भुगतनी पड़े।"

चित्तचोर गम्भीर हो गए। फिर बोले, "अच्छा तो—या तो एक रुपया हमें देव या हमसे लेव।"

चितचोर जी के कहने की अदा मुझे बड़ी भायी।

भाषण पर भाषण होते रहे। माइक्रोफोन था नहीं और आजकल आमतौर पर हमारे पढ़े-लिखे लोगों के पास वह आवाज़ नहीं रह गई जो दस-बीस हज़ार की कौन कहे, हज़ार-पांच सौ आदमियों को भी सुनाई पड़ सके। जनता धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। जवान लड़कियां, औरतें, बच्चे, पुरुष क्रमशः बढ़ते ही जा रहे थे। होने वाले तमाशे, यानी कि भाषणबाज़ी के प्रति उनमें सहज

आकर्षण था। लेकिन बातें कुछ तो सुनाई नहीं पड़ती थीं, और कुछ समझ में नहीं आती थीं। इसलिए बढ़ती भीड़ में शोरगुल भी क्रमशः बढ़ता ही जाता था।

मुझे लगा कि इस मेले को एक सुनियोजित रूप देना चाहिए—कसरत-कुश्ती का दंगल, औरतों की बनाई हुई गृहशिल्प की वस्तुओं का प्रदर्शन, क्षेत्रीय कवियों का सम्मेलन, खेल-कूद और वाद-विवाद प्रतियोगिताएं, यहां प्रतिवर्ष हुआ करें तो बहुत अच्छा हो।

[1962]

हिन्दी के एक रूपदाता : रूपनारायण पांडेय

रूपनारायण जी पांडेय को याद करते हुए स्वाभाविक रूप से भाषा की समस्या वाली बात मन में उनके लखनवी होने के कारण ही उभर आई। लखनऊ खड़ी बोली के उर्दू रुप का जाना-माना गढ़ था। वहां जिन लोगों में 'अच्छी-खासी मीठी ज़बान' को संस्कृत शब्दों से 'बदसूरत' बनाने की प्रेरणा उपजी, उनमें पांडेजी का प्रमुख स्थान है। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा है :

"नवाबी शहर लखनऊ सदा से उर्दू का गढ़ रहा हो या नहीं, किन्तु आज से चालीस-पचास वर्ष पहले अवश्य था।···उस समय लखनऊ में हिन्दी का प्रचार बहुत कम था, जिधर देखो उधर उर्दू का ही बोलबाला था। बातचीत में उर्दू, पत्र व्यवहार में उर्दू, अदालतों में उर्दू। उर्दू के अखबार और उर्दू की पुस्तकें ही अधिकतर छपती और बिकती थीं। कवि सम्मेलन तो नाम को भी नहीं सुन पड़ता था; मुशायरे आए दिन हुआ करते थे।"

ऐसे वातावरण में रहते हुए वे उर्दू से क्यों न प्रभावित हों? पं० रतननाथ दर सरशार के पड़ोस में रहकर भी वे हिन्दी के कवि, लेखक और सम्पादक क्यों हुए? यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है। अनेक श्रेष्ठ संस्कृत और बंगला पुस्तकों के अनुवाद कर उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रभावित किया है। पड़ोस की उर्दू न सीख—कोसों दूर बंगाल की भाषा के जादू से क्यों बंधे—वे ही नहीं सारा हिन्दी भाषी प्रदेश क्यों बंधा, यह बात भी बराबर ध्यान में आती है। ज़ाहिर है कि उर्दू शैली में प्रस्फुटित हुए हमारे जन-मानस की वह भूख मिटाने में असमर्थ रहे होंगे जो संस्कृत, बंगला, मराठी और गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों द्वारा उस समय तृप्त हुई। अपने प्रदेश की अपनी ही भाषा की एक शैली के साहित्य से वे एक न हो सके और दूसरे प्रदेश की भाषाओं के साहित्य में उन्हें एक मिला, यह समझने योग्य बात है।

मैंने एक बार पांडेय जी से कुछ लिखित प्रश्न किए, उनके उत्तर उन्होंने भी लिखकर ही देने की कृपा की थी। एक प्रश्न के उत्तर में प्रसंगवश उन्होंने लिखा था :

"बंगला संस्कृत-बहुल भाषा होने के कारण हिन्दी वालों के लिए सीखने में सहज थी। इसी बंगला ने हिन्दी और उसके लेखकों को प्रभावित किया।··· बंगला के भाव और विचार प्राय: उन्नत होते जा रहे थे। उनमें संकीर्णता की जगह व्यापकता के चिह्न प्रकट होने लगे थे।"

संस्कृत के साथ हमारी सभी प्रादेशिक भाषाओं का बड़ा घना सम्बन्ध है, यहां तक कि द्राविड़ी भाषाओं के साथ भी। राष्ट्रीयता की चेतना जगाने में अकेली अंग्रेज़ी ही नहीं, देश की सांस्कृतिक इकाई का भी आखिर कुछ योग अवश्य था; यह हमें नहीं भूलना चाहिए। यह सांस्कृतिक इकाई उनकी थी जो कश्मीर के अमरनाथ से लेकर दक्षिण के रामेश्वरम्, कन्याकुमारी तक और द्वारका से कामरूप आसाम तक के दर्शन करने में अपने जन्म की सार्थकता मानते थे।

उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत आदि के नागरिक और साक्षर ग्रामवासी यदि नागरी लिपि और अपनी आध्यात्मिक साहित्य चेतना की परम्परा में चिर प्रवहमान संस्कृत शब्दों से युक्त खड़ी बोली को अपनाते हैं तो इसमें उनका दुराग्रह क्यों कर माना जा सकता है। क्या वे राष्ट्रीयता के नवजागरण-काल में अपनी सांस्कृतिक इकाई को भूल 'अच्छी-खासी मीठी ज़बान' के तंग दायरे में बंधे रह सकते थे ?

पहले भी लखनऊ में उर्दू की शिक्षा-दीक्षा मुसलमानों के बाद कायस्थों और काश्मीरी ब्राह्मणों के परिवार में ही होती थी। इनके पूर्वज नवाबी दरबारों से संबद्ध थे। इनके बाद इक्के-दुक्के उदाहरण छोड़कर बाकी लोग जो अपने बाल-बच्चों को पढ़ाते-लिखाते थे, वे अंग्रेज़ी के साथ नागरी का ही पोषण कर रहे थे। पुराना दरबार उजड़ जाने से कायस्थों और काश्मीरी ब्राह्मणों में भी नागरी के प्रति धीरे-धीरे रुचि बढ़ रही थी। सन् 1887 में यहां से काश्मीरियों का 'धर्म सभा अखबार' साप्ताहिक और सन् 1889 में मासिक 'कायस्थ उपदेश' प्रकाशित होने लगा था। वैसे सन् 1881 में 'मासिक भारत दीपिका' और सन् 1882 में दैनिक 'दिनकर प्रकाश' भी प्रकाश में आ चुके थे। लगभग यही समय

पांडेय जी के जन्म का भी है।

वे गेगासों के पांडेय थे, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के 'बिस्वामरजाद' के अनुसार 'झकझकौआ' पूरे बीस। घर में पठन-पाठन ब्रह्मकर्म होता था। पैसे से यह लोग हेटे थे। जैसे-तैसे ही गृहस्थी की गाड़ी खिचती थी। इनके जन्म के एक साल बाद ही पिता का देहान्त हो गया। पितामह ने ही इनका पालन-पोषण किया। वे ही इनके गुरु भी थे। जब ये तेरह वर्ष के हुए तब वे भी कालवश हुए। कच्ची उमर में ही इनपर रोटी कमाने का बोझ भी पड़ गया। शिक्षा अभी पूरी नहीं हुई थी, बालक की चिन्ताओं का ठिकाना न रहा।

उन दिनों चौक के सोंधी टोले में पं० ज्ञानेश्वर जी नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे। पांडेय जी इनकी शरण में गए। उन्होंने निराश्रित बालक को अपनी छत्रछाया में ले लिया। ज्ञानेश्वर जी के सम्बन्ध में बातें करते हुए पांडेय जी श्रद्धा-विभोर हो उठते थे। मुझे इस समय ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा है कि किन कारणों से वे कैनिंग कालेज में संस्कृत पढ़ने के लिए भरती हुए। शायद ज्ञानेश्वर जी का स्वर्गवासी हो जाना ही इसका कारण था। वहां पं० रामकृष्ण जी शास्त्री इनके गुरु हुए। पांडेय जी प्रतिभावान, कठोर परिश्रमी और बड़े विनयशील थे। शास्त्री जी इन पर प्रसन्न हो गए। उत्तम शिक्षादान दिया। पांडेय जी के शब्दों में उनसे इन्हें "शिक्षा और प्रशंसा तो प्राप्त हुई ही, स्वल्प शब्दों में विशेष भाव व्यक्त करने का गुर भी मिला।" यह सब होते हुए भी गरीबी के कारण इनकी शिक्षा अधूरी रह गई। पेट पालन की चिन्ता में भटकने लगे। कविता करने का चस्का पड़ चुका था। परन्तु उससे वाहवाही के सिवा और कुछ न मिलता था। संस्कृत पुस्तकों, विशेष रूप से पुराणों के अनुवाद छपने लगे थे। इन्होंने प्रकाशकों से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। होते-करते बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से इन्हें श्रीमद्भागवत का अनुवाद करने की साई मिली। इनका वह अनुवाद 'शुकोक्तिसुधा सागर' के नाम से प्रकाशित हुआ उससे इन्हें प्रशंसा मिली।

उन्हीं दिनों शायद सन् 1907 में बाबू गोपाललाल खत्री से पांडेयजी की भेंट हुई। मेरे पितामह के साथ-साथ खत्री जी भी इलाहाबाद बैंक के ओहदेदारों में से एक थे। गोपाललाल जी जौनपुर के एक ज़मींदार कुल के थे। रईस और शौकीन मिज़ाज थे। उनके वेतन और ज़मींदारी की पूरी आमदनी खाने-

पीने में ही उड़ जाती थी। फिजूल खर्ची तब भी न रुकी, बाद में उन्हें और उनके परिवार को उसका कठोर दुष्परिणाम भी भुगतना पड़ा। खैर यह होते हुए भी वे नागरी भाषा के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने 'हमारी दाई' नामक एक उपन्यास भी लिखा था। लखनऊ आने पर उन्होंने यहां हिन्दी का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए एक अपील लिखी और पांडेय जी के यहां पहुंचे। पांडेय जी बाईस-तेईस वर्ष के युवक थे। पर नाम कमा चुके थे। 'सरस्वती' में उनकी कविताएं छपने लगी थीं। आचार्य द्विवेदी जी तक उनकी गणना उत्तम कवियों में करते थे। पेट की खातिर वे नाम कमाने के शौकीन रईसों के लिए भी लिखा करते थे। रईस आपस में पता लगा ही लेते थे कि अमुक ने अपने नाम से छपी कविताएं, लेख, अभिभाषण आदि किससे लिखवाए। इस तरह पांडेय जी की ख्याति हर तरह से फैल रही थी। परन्तु इस ख्याति से उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का बल किसी हद तक क्षीण ही हुआ। वे उस गाय की तरह थे जो दूसरों द्वारा दुह लिए जाने के कारण स्वयं अपने बछड़े को हृष्ट-पुष्ट न बना सकती थी। मिश्र-बन्धुओं ने पांडेय जी के विषय में ठीक ही लिखा है :

"यदि जीविका साधनार्थ आपको अनुवादों पर ही बहुत अधिक ध्यान न देना पड़ता, अथवा मौलिक ग्रन्थों की ओर आप झुकते, संभवत: आप परमोच्च श्रेणी के कवि होते।"

खैर, गोपाललाल जी खत्री के पैसे से पांडेय जी के सम्पादन में यहां से 'नागरी प्रचारक' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। उसके 'मोटो' के रूप में पांडेय जी ने एक छंद लिखा था।

अर्थ निकरत है, अनर्थ न करत,
बर बरन हिय, हिय मैं बिचारिये;

शुद्ध औ सरस, पद कोमल अमल अंग
गूढ़ धुनि, पुनि बहु भूषण सँवारिये।
सुन्दर सुलच्छन बिलच्छन चमतकार,
विगत विकार, ताहि काहे को बिसारिये ?
नागर निरादर सो नागरी सी छीन
यहि नागरी गरीबिनि कौ नेकु तो निहारिये।

इसकी व्याख्या स्वयं पांडेय जी ने इस प्रकार की है !

"इस छंद में नागरी की नागरी (नारी) से तुलना की गई है। जैसे नागरी (नारी) से अर्थ अर्थात् मतलब निकलता है वैसे ही इस नागरी से अर्थ निकलता है। जैसे वह नागरी कोई अनर्थ या बुरा काम नहीं करती, वैसे ही इस नागरी की लिखावट से उर्दू की तरह अर्थ का अनर्थ नहीं होता, कुछ का कुछ नहीं पढ़ा जाता। उस नागरी का वर्ण (रंग) हृदयहारी होता है और इस नागरी के वर्ण (अक्षर) भी सौन्दर्य से हृदय को हरने वाले हैं। वह नागरी शुद्ध (सच्चरित्र) है और यह भी शुद्ध है। वह नागरी सरस यानी रसीली है तो इस नागरी में भी नवरस हैं। इसके पढ़ने से रस (आनन्द) मिलता है। उसके पैर कोमल हैं इसकी कविता के भी पद कोमल हैं। उसके हाथ-पैर आदि अंग निर्मल-निर्दोष हैं इसके भी अंग (दशांग साहित्य) निर्मल-निर्दोष हैं। उसकी ध्वनि अर्थात् आवाज़ कुल कामिनी होने के कारण सबको सुनाई नहीं पड़ती, इसकी भी कविता में 'ध्वनि' गूढ़ रहती है। उस नागरी को जैसे अनेक आभूषण सजाते हैं वैसे ही नागरी को भी अनेक शब्दार्थालंकारों से सजाया जा सकता है। दोनों ही सुन्दर हैं। उस नागरी में सब अच्छे लक्षण हैं तो यह नागरी भी सुन्दर लक्षणों से अथवा अच्छे लक्षणों से युक्त है। दोनों का चमत्कार विलक्षण है। आप लोग विचारिए, फिर ऐसी नागरी को क्यों भूले हुए हैं ? जैसे नागर (नायक) से निरादर पाकर नागरी (नायिका) दिन-दिन दुबली होती जाती है, वैसे ही नागरों (नगर-निवासियों। के किए निरादर से क्षीण होती चली जा रही इस गरीब नागरी की ओर तनिक तो देखिए—इसकी सुधि लीजिए।"

पुरानी और नई राजभाषाओं के बोझ-दबाव से पीड़ित बहुजन की भाषा के लिए तत्कालीन युवक पांडेय की भावना को संकीर्ण अर्थ में साम्प्रदायिक मानने के लिए मैं हरगिज़ तैयार नहीं। पांडेय जी बड़े उदार थे। उर्दू साहित्य के प्रति वे तनिक भी संकीर्ण नहीं थे। इनके सम्पादकत्व में निकलन वाली 'माधुरी' और 'सुधा' की पुरानी फाइलें उलटने पर कोई भी यह देख सकता है कि उन्होंने उर्दू साहित्य से सम्बन्धित कितने ही प्रशंसात्मक लेख छापे थे। अपनी मृत्यु से केवल चार दिन पहले 'शतदल' नामक संस्था की एक गोष्ठी में एक मुसलमान की गज़लों पर रीझकर उन्होंने तत्काल ही उनकी प्रशंसा में एक छंद लिखकर दिया था।

वंगला पुस्तकों के अनुवादकर्त्ताओं में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। पेट के गरज-बावरी से बंधकर भी वे अपना उद्देश्य नहीं भूले। अल्लम-गल्लम भरने के बजाय वे यहां का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी में लाए। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि रूपनारायण पांडेय 'कविरत्न' के पुण्य प्रताप से ही हिन्दी का मौलिक कथा-साहित्य पनपा। भाषा ऐसी सरल और मुहावरेदार लिखते थे कि वह दूसरों के लिए आदर्श बन गई।

'नागरी प्रचारक' के अतिरिक्त जब प्रसाद जी की प्रेरणा से मासिक 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ करने की योजना बनी तो महाकवि के आग्रह से वे ही उसके सम्पादक नियुक्त हुए। भारत धर्म महामंडल ने इन्हें 'कविरत्न' की उपाधि देकर अपनी पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का सम्पादक बनाया। 'माधुरी' और 'सुधा' पत्रिकाएं इन्हींके सम्पादन में ऐतिहासिक महत्त्व अर्जित कर पाईं। जिन दिनों चारों ओर से महाकवि निराला जी का विरोध हो रहा था, उन दिनों 'माधुरी' उनकी कविताएं मुखपृष्ठ पर छापती थी।

निराला जी उनका बड़ा आदर करते थे। पांडेय जी ही ऐसे थे जो महाकवि की रचनाओं में काट-छांट कर सकते थे। उनके 'पंत और पल्लव' नामक सुप्रसिद्ध लेख का एक पैराग्राफ, जो पांडेय जी की दृष्टि में कटु था, महाकवि के सामने ही लाल स्याही से कट गया। महाकवि बड़े उत्तेजित हुए परन्तु पांडेय जी के मीठे किन्तु दृढ़ तर्क के आगे चुप हो गए।

प्रेमचन्द की एक कहानी का शीर्षक था 'पौपुजी', मुहावरे की दृष्टि से यह पांडेय जी को गलत जंचा, काटकर 'पैंपुजी' लिख दिया।

लेखक नया है या पुराना, इसकी चिन्ता न करके वे वही रचनाएं छापते थे जो उनकी नज़र में चढ़ जाती थीं। अवधी बोली के श्रेष्ठ कवि और यथार्थवादी कहानियां लिखने में बेजोड़, हमारे आदरणीय मित्र बलभद्रजी दीक्षित 'पढ़ीस' के स्वर्गवासी हो जाने पर बंधुवर डॉ० रामविलास शर्मा ने 'माधुरी' का 'पढ़ीस' अंक निकालने की प्रार्थना की, पांडेय जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया; यही नहीं, उस अंक का सम्पादक भी भाई रामविलास जी को ही बना दिया। जब उस अंक के प्रकाशन की योजना बनने लगी तो एक स्वनामधन्य आलोचक, जिनकी विद्वत्ता का अनुमान केवल इसीसे लगाया जा सकता है कि वे पब्लिसिटी के अनुसार ही किसी लेखक को छोटा-बड़ा होना मानते थे, एक सज्जन से बोले,

"क्या पढ़ीस जी इतने बड़े लेखक थे कि उनकी स्मृति में 'माधुरी' का विशेषांक निकाला जाए ?" उन स्वनामधन्य प्रोफेसर समालोचकाचार्य की न्यायबुद्धि के आगे पांडेय जी की न्यायप्रियता और उदारता ऐसी लगती है जैसे चूहे के आगे पहाड़।

वे जीवन-भर सीधे-सादे एक-से बने रहे। गर्मी में धोती, कमीज़, वास्कट, जाड़े में कोट। यही उनकी पोशाक थी।

मुझपर उनका स्नेह पुत्रवत् था। उनके कथनानुसार मेरे पितामह उन्हें पुत्रवत् मानते थे। सन् '38 में जब वे चार महीनों की तीर्थयात्रा के बहाने भारत भ्रमण के वास्ते गए तो 'माधुरी' का काम-काज मुझे सौंप गए थे। एक कलक रह गई—सन् '48 में जब मैं फिल्मों का काम छोड़ लखनऊ आया तब दो-तीन बार उन्होंने कहा, "देखो, तुम मुझसे संस्कृत पढ़ लो। तुम्हारे बड़े काम आएगी।" मैं अभागा उसके लिए समय न निकाल पाया। अब कौन उतने प्यार से शिक्षा-दान देने का आग्रह करेगा।

अपने सम्बन्ध में वे पब्लिसिटी की धूमधाम पसन्द नहीं करते थे। एक बार मैंने किसी लेख में उन्हें आचार्य पांडेय जी लिखकर सम्बोधित किया। 'माधुरी, कार्यालय से लौटते समय वे मेरे घर आए, बोले, "भैया, छोटे ही सही पर कहो तो तुम्हारे पैर छू लूं, तुम हमें उपाधिग्रस्त न करो। एक 'कविरत्न' टाइटल मिल गया वही बहुत है।"

सन् '50 में उनकी 66वीं वर्षगांठ के अवसर पर लखनऊ के सुकवि बंधु निशंक जी ने शतदल' की ओर से उनके सम्मानार्थ एक आयोजन करना चाहा। वे कन्नी काट गए। निशंक जी ने मुझसे कहा, "तुम आयोजन करो, उन्हें राज़ी करने का ज़िम्मा मेरा रहा। मैंने उन्हीं के घर पर 'शतदल' की एक गोष्ठी करने की सलाह दी। गोष्ठी के अंत में निशंक जी ने फिर अपना प्रस्ताव रखा। पांडेय जी ना-ना करते ही रह गए, परन्तु मैंने उनकी एक नहीं चलने दी। हारकर उठकर अन्दर चले गए, कहा, "जो चाहो सो करो।"

ऐसे सरल, निर्मल, कर्मठ व्यक्ति अब कहां मिलेंगे ?

[1958]

सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

21 मार्च सन् 1968 की शाम को साढ़े सात बजे पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के स्वर्गवास के साथ ही साथ तपस्वी साहित्यकारों एवं पत्रकारों की महान् पीढ़ी की अन्तिम कड़ी लुप्त हो गई। पिछले 30 दिसम्बर को उनके 88वें जन्म-दिवस पर हम लोग सदा की भांति उनके चरण-स्पर्श करने गए थे। शरीर से बहुत अधिक शिथिल होते हुए भी मन से वे ताज़े थे। उनके पुत्र उपेन्द्र उनके बढ़े हुए स्मृति-दोष के कारण उन्हें बतलाने लगे कि ये अमुक हैं और ये अमुक। आजीवन विलक्षण स्मरण-शक्ति के धनी वाजपेयी जी का यह दैन्य हम सभी को मन ही मन में कष्ट पहुंचा रहा था। हममें ऐसा कोई भी नहीं था जिसे वे भली-भांति न पहचानते हों। सम्भवतः वाजपेयी जी को भी अपना यह स्मृतिदैन्य कहीं अखरा होगा, इसीलिए अपनी इस कमज़ोरी से उन्होंने संघर्ष भी किया। भूतपूर्व 'भारत' सम्पादक श्री बलभद्रप्रसाद मिश्र का नाम बतलाने से पहले ही वे उनसे सहसा मुस्कराते हुए पूछ बैठे—"कहो—अर्द्ध दशानन के का हाल हैं;" उनके यह पूछते ही हम लोग हंस पड़े। इस हंसी के पीछे हमारी आस्था-भरी ख़ुशी चमक रही थी कि वाजपेयी जी रोग और आयुर्वार्द्धक्य की जड़ता से लड़ने में अब भी सक्षम और सचेत हैं। आयुर्वेदपंचानन स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल को विनोद में वे 'अर्द्ध दशानन' कहा करते थे। (शुक्ल जी वय में पूज्य वाजपेयी जी से एक या दो वर्ष बड़े थे। उनके स्वर्गवास का समाचार वाजपेयी जी को नहीं बतलाया गया था।) मिश्र जी से उनके सम्बन्ध में पूछ-कर वाजपेयी जी ने मानो यह जतला दिया कि उनकी याददाश्त अब भी ठीक-ठिकाने है। हम लोगों की हंसी ने वाजपेयी जी के इस प्रश्न को टाल दिया। स्वाभाविक रूप से मिश्र जी उन्हें शुक्ल जी के स्वर्गवास का समाचार सुनाकर आघात नहीं पहुंचाना चाहते थे। लौटते समय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, भगवती बाबू, मिश्र जी आदि सभी लोग उनकी ज़िन्दादिली की चर्चा करते

चले आ रहे थे, तभी मैंने कहा कि वाजपेयी जी के जीवन-काल में उनकी यह अन्तिम वर्षगांठ है। वाजपेयी जी अपने स्मृति-दोष को सह न पाएंगे। इसके कारण उनका मानसिक कष्ट उन्हें शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुंचा देगा। इस बात को पूरे तीन महीने भी न गुज़रे कि वाजपेयी जी अपनी इह लीला समाप्त करके चले गए। लेकिन इन तीन महीनों में लगातार बीमार रहते हुए भी उन्होंने अपने-आपको कर्मठ और सचेत बनाए रखा। कल ही भारत सरकार के उप-निदेशक मित्रवर अशोक जी बतला रहे थे कि उनके आग्रह पर वाजपेयी जी ने लगभग एक महीना पहले 'आजकल' के लिए लिपि की समस्या पर एक लेख लिखवाकर भेजा था। वाजपेयी जी की यह कर्मठता मेरे लिए आदर्श की वस्तु भी रही है और ईर्ष्या की भी। बुज़ुर्गवार इस वय में भी जितना काम कर लेते थे उतना मैं नहीं कर पाता था। वे आजीवन जवानी का प्रतीक बने रहे।

लगभग सोलह-सत्रह वर्ष या उससे भी कुछ पहले से वे हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास लिख रहे थे। एक दिन सवेरे ही टेलीफोन द्वारा उन्होंने मुझसे लखनऊ से निकलने वाले हिन्दी के पुराने दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रों के सम्बन्ध में अपने यहां के पुराने लोगों से कुछ सूचनाएं प्राप्त करने का आदेश दिया। बहुत-सी बातों की जानकारी तो मैंने घंटे-दो घंटे के भीतर ही सम्बन्धित लोगों के वंशजों से प्राप्त कर ली, किन्तु एक 'पत्र' से सम्बन्धित जानकारी मैं उस समय न पा सका। घर लौटकर आने पर मालूम हुआ कि पूज्य वाजपेयी जी महाराज का फोन आया था। मैंने तुरन्त उन्हें फोन किया। अपना नाम बतलाकर प्रणाम निवेदन करते ही पंडित जी ने मुझसे पूछा, "कहो, कुछ सफलता मिली?" मेरा उत्तर सुनकर वे सन्तुष्ट हुए। मैंने कहा कि कल सवेरे सम्बन्धित व्यक्ति से मिल लेने के बाद तुरन्त आपकी सेवा में पहुंचूंगा।

मगर उसी दिन संध्या के समय पूज्य पंडित जी को अपने बैठके में प्रवेश करते हुए देखकर एकाएक मैं स्तब्ध रह गया। मैंने कहा, "पंडित जी, आपने क्यों कष्ट किया? मैं तो कल आता ही।"

सम्पादकाचार्य जी बोले, "बात यह है कि डाक्टर भगवानदास की मिज़ाज-पुर्सी के लिए हमें मेडिकल कालेज तक आना ही था, इसलिए हमने सोचा कि लाओ एक पंथ दो काज करते चलें। और तुम्हारी एक भूल को भी हमें सुधारना था, इसलिए चले आए।" गर्मी के दिन थे। मैं सोचने लगा कि लगभग तीन

बजे के समय महाराज अपने घर से चले होंगे। इस वय में भी उन्हें लू या धूप की चिन्ता नहीं सताती। भारतरत्न डा० भगवानदास जी बीमार होकर मेडिकल कालेज में पड़े हैं। उनकी चिन्ता है, काम की सामग्री लाने की चिन्ता है और लगे हाथों मेरी एक भूल को सुधारने की चिन्ता भी है। भूल-सुधार मेरे लिए सचमुच ही बहुत महत्त्वपूर्ण था। तखत पर बैठे ही बैठे घर के सामने सड़क पार कम्पनी बाग की ओर संकेत करके बोले, "तुमने यहां के पुराने वाजपेयी टोले का हाल 'नवजीवन' में लिखा था, उसमें विवाह की जो कथा तुमने लिखी है उसका सम्बन्ध विष्णु शर्मा से नहीं, बल्कि बुद्धि शर्मा से है। दोनों में चार पीढ़ियों का अन्तर था।"

मेरे पुराने घर के सामने वाला कम्पनी बाग समय-समय पर हिन्दी के दो महारथियों को पहले भी यहां की गदरपूर्व की बस्तियों का इतिहास बतलाने के लिए प्रेरित कर चुका था। एक दिन सहसा स्वतः स्फूर्त उत्तेजना में स्व० निराला जी ने कम्पनी बाग के ऊंचे खाले से लखनऊ के प्रसिद्ध ऊंचे खाले के वाजपेइयों का निकास, स्वजाति पर तीव्र व्यंग्य करते हुए बखाना था। उनके बाद स्व० पं० रूपनारायण जी पाण्डेय 'कविरत्न' भी एक दिन कम्पनी बाग से प्रेरित होकर पुराना इतिहास बखानने के मूड में आ गए थे। उन्हीं से वाजपेयी टोले और पंडितवर विष्णु शर्मा की कथा सुनने को मिली थी।

मैंने जब पांडे जी का हवाला दिया तब बोले, "रूपनारायण ने सुनी-सुनाई बात बतलाई। हम अपने पुरखों का प्रामाणिक हाल बतलाते हैं..."

उन्हें प्रसंगवश पुरानी बातें सुनाने का बड़ा चाव था। हिन्दी और बंगला पत्रकारिता का इतिहास तो वे सन्-सम्वत् और कभी-कभी तारीखों तक के साथ सटीक सुनाया करते थे। हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास उन्होंने अपनी स्मृति से ही लिखा था। उसे पूरा करते न करते ही दुर्भाग्यवश उन्हें पक्षाघात हो गया। वे पूरी तरह से स्वस्थ भी न हो पाए थे कि उनके जन्म-दिन के उपलक्ष्य में हम लोगों ने एक सभा आयोजित की। श्रद्धेय सम्पूर्णानन्द जी उस सभा में आए थे। वाजपेयी जी भी एकदम अप्रत्याशित रूप में उपेन्द्र को साथ लेकर उस सभा में पहुंच गए। हमारे उत्साह और आनन्द की सीमा न रही। उक्त सभा में स्वाभाविक रूप से उनके स्वास्थ्य और उनके द्वारा लिखे जाने वाले इतिहास की चर्चा कई लोगों ने की। सम्पूर्णानन्द जी उस समय हमारे प्रदेश के शिक्षा-

मन्त्री थे। उन्होंने कहा कि वाजपेयी जी की सहायता के लिए सरकार तीन-चार आदमियों को नियुक्त कर सकती है। वाजपेयी जी बोले, "हमें सरकारी सहायता की आवश्यकता नहीं। हमने तो जैसे-तैसे अपना काम पूरा कर डाला, अब सरकार यदि चाहे तो उस काम को आगे बढ़ा सकती है। हमें किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं।"

सरकार फिर भला क्यों चाहने लगी ? वह बात जहां की तहां ही रह गई। लेकिन वाजपेयी जी अपने काम से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हुए थे। किताब छप जाने के बाद भी वे बराबर उसका संशोधन-परिवर्द्धन करते ही रहे। दो-तीन वर्ष पहले एक दिन उनसे मिलने गया तो देखा, वे अपने कागज़ों से जूझ रहे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि पत्रकारिता के इतिहास सम्बन्धी कुछ सामग्री उन्होंने अपनी स्मृति के खज़ाने से और निकाली है, जिसे यथास्थान संजो रहे हैं। उन्हें अपनी स्मृति से तब पहली बार शिकायत होने लगी थी। कहने लगे, "बहुत-सी बातें अब हम भूलने लगे हैं। उनका क्रम बिगड़ता है तो हमें कष्ट होता है। एक-एक बात को बार-बार याद करना पड़ता है। उसमें कुछ छूट जाता है तो फिर याद करके जोड़ते हैं।"

वे बड़े स्वाभिमानी और खरी बात कहने वाले थे। जब वे उत्तर प्रदेश विधान-परिषद के सदस्य मनोनीत किए गए तब उनसे कांग्रेस पार्टी में शामिल होने का आग्रह किया गया। वे बोले, "पत्रकार किसी पार्टी-वार्टी में शामिल नहीं होता। उसे तटस्थ और न्याययुक्त होकर ही सारी बातों का विवेचन करना चाहिए।" जीवन के अनेक दुख और महंगाई के कष्ट सहते हुए भी वाजपेयी जी ने किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, उत्तर प्रदेश के प्रथम और द्वितीय मुख्यमंत्री गोविन्द वल्लभ पन्त और डा० सम्पूर्णानन्द जी उनके प्रशंसकों में से थे। परन्तु वाजपेयी जी ने अपनी सुख-सुविधा के लिए कभी उनसे कुछ न मांगा। इस भरे बुढ़ापे में रोग-जर्जर हो जाने पर भी वे लिखकर ही कमाते रहे। ईश्वर की दया से उनके सब पुत्र अपने रोज़ी-रोजगार से लगे हुए हैं, फिर भी वाजपेयी जी बराबर यथाशक्ति लिखते-कमाते ही रहे।

जिन दिनों वाजपेयी जी को पक्षाघात हुआ था उन दिनों मेरे यहां बाबा रॉम जी नामक एक हठयोगी, कर्मयोगी साधु रहा करते थे। (किंचित् प्रकारा-

न्तर से मेरे उपन्यास 'बूंद और समुद्र' में वे एक पात्र बनकर भी आए हैं तथा बन्धुवर राजेन्द्र यादव अपनी एक आलोचना में उन्हें अयथार्थवादी, अविश्वसनीय और काल्पनिक पात्र भी घोषित कर चुके हैं।) मैंने बाबा जी से वाजपेयी जी की बीमारी का हाल बतलाया। उनके रोग ने मेरे मन को अपराध भावना से जड़ीभूत कर दिया था। मुझे लगता था कि नगर के सांस्कृतिक जागरण के हेतु मैंने पूज्यवर को आवश्यकता से अधिक दौड़ाया-घुमाया और इसी से वे बीमार पड़ गए। बाबा जी बोले, "हम उन्हें फिर से जवान बना देंगे।" बाबा जी पंडित जी से वय में लगभग चार-पांच वर्ष बड़े थे, लेकिन वह दण्ड, कसरत आदि में जवानों के भी कान काटते थे। शरीर की मालिश करने में वह अपना सानी नहीं रखते थे। बाबाजी जाड़े के दिनों में तीन-साढ़े तीन बजे रात को चौक से नंगे बदन दौड़ लगाते हुए नज़रबाग, वाजपेयी जी के यहां जाते थे। वाजपेयी जी नियम से चार बजे उठकर उनकी प्रतीक्षा करते थे। बाबाजी के जोश दिलाने पर पण्डितजी मालिश के बाद कसरत भी करने लगे। बहुत-से लोगों को यह भय हुआ कि पक्षाघात के बाद इस तरह से व्यायाम करने से कहीं वह अधिक रोगग्रस्त न हो जाएं। लेकिन पंडित जी बाबाजी के इस सिद्धान्त से सहमत थे कि जब तक शरीर में ठीक तरह से रक्त-संचार होता रहता, और आंतें सशक्त तथा निर्मल रहती हैं, तब तक रोग और बुढ़ापा मनुष्य के पास तक नहीं फटकता। बाबाजी ने उन दिनों न जाने कितनी बार वाजपेयी जी महाराज के जोश-ए-जवानी की प्रशंसा करते हुए व्यायाम के प्रति मेरी लापरवाही को लताड़-लताड़कर लज्जित किया था। हमसे कहते, "वाजपेयी कहता है कि मनुष्य जियै तो काम करै, औ काम न करै तौ फिन काहे को जियै।"

खेद है कि जिस काम की लगन में पूज्य वाजपेयी जी ने अपना सारा जीवन खपा दिया उस काम ही को हम लोग भूल गए हैं। उनके अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। उनकी रचनाएं अब भी पुस्तकालयों की अलमारी में कहीं ओने-कोने में छिपी पड़ी होंगी। बहुत-से काम उन्होंने ही हिन्दी में आरम्भ किए थे। जहां तक मुझे ध्यान है हिन्दी का पहला व्याकरण पूज्य वाजपेयी जी ने ही लिखा था। उनकी पुस्तक 'हिन्दुओं की राजकल्पना' भी स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दू राजतन्त्र' से पहले ही प्रकाशित हुई थी। हमारी शिक्षा-नीति पर भी उन्होंने एक पुस्तक रची थी। फुटकर लेखों के

अलावा लगभग 19-20 पुस्तकें यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। हम अपने पूर्ववर्ती महापुरुषों की अथक श्रम-भरी लगन को गई-बीती निकम्मी वस्तु मानकर बराबर भूलते चले जा रहे हैं।

सन् 1939 ई० में काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन वाजपेयी जी के सभापतित्व में हुआ था। भारतरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा था, "वाजपेयी जी ने हम लोगों को उस समय राजनीति की शिक्षा दी, जबकि बहुत-से लोग यह भी नहीं जानते थे कि राजनीति किस चिड़िया का नाम है।" मुझे याद है, उन्होंने कहा था कि कलकत्ते के विद्यार्थी जीवन के दिनों में वह (राजेन्द्र बाबू) प्राय: पंडित जी से मिला करते थे। कलकत्ता ही मुख्य रूप से पंडित जी की कर्मभूमि रही है। यों उनका जन्म 30 दिसम्बर सन् 1880 ई० (पौष कृष्ण 14 सम्वत् 1937) के शुभ दिन कानपुर में हुआ था। वाजपेयी जी के पूर्वज गदर के दिनों में लखनऊ छोड़कर वहां जा बसे थे। पिता श्री कन्दर्प नारायण जी जीविकोपार्जन के लिए कलकत्ता जाकर बस गए। पण्डित जी की पढ़ाई-लिखाई कानपुर, काशी और कलकत्ते में हुई। सन् 1900 ई० में उन्होंने ऐंट्रेन्स परीक्षा पास की। बड़े भाई की मृत्यु से आगे की पढ़ाई रुक गई। यों स्वाध्याय बराबर जारी रहा। सन् 1902 में वह फिर कलकत्ता पहुंचे और लगभग तीन वर्षों तक इलाहाबाद बैंक में काम किया। साथ ही 'हिन्दी-बंगवासी' में भी प्रवेश किया।

सन् 1907 में राजनीतिक मासिक 'नृसिंह' चलाया, जो लगभग एक वर्ष तक चल सका। आर्थिक कारणवश उसे बन्द करना पड़ा। 1909 ई० में 'बंगाल नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशन' के नेशनल कालेज में हिन्दी-अध्यापक का काम शुरू किया। 1910 में अध्यापन कार्य छोड़कर पुन: 1911 की जनवरी में 'भारत मित्र' के सम्पादक नियुक्त हुए। उसे साप्ताहिक से दैनिक किया। उस समय देश में यही एकमात्र हिन्दी दैनिक पत्र था और इसे हिन्दी दैनिकों का अग्रदूत माना गया। इस प्रकार वाजपेयी जी ने हिन्दी पत्रकारिता की बुनियाद रखने में जो भूमिका अदा की थी, सम्भवत: उसी का ध्यान करके लोग-बाग आगे चलकर उन्हें श्रद्धापूर्वक सम्पादकाचार्य कहने लगे। यह कहीं से मिली हुई उपाधि नहीं है। पता नहीं कब और किसने यह लिखना शुरू किया।

1919 तक काम करने के बाद उन्होंने 'भारतमित्र' छोड़ दिया, क्योंकि

उसका स्वामित्व 'सनातन-धर्म महामण्डल' के हाथों चला गया था। किसी धार्मिक पत्र का सम्पादक होना उन्हें स्वीकार नहीं था, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से वह अत्यन्त संयम-नियमशील उपासक हैं।

सन् 1920 में 'इंडियन नेशनल पब्लिशर्स लिमिटेड' से उनके सम्पादकत्व में दैनिक 'स्वतन्त्र' प्रकाशित हुआ। इस कम्पनी की स्थापना भी स्वयं वाजपेयी जी ने धन-संग्रह करके की। 1930 में सरकार ने पत्र से ज़मानत मांगी, जिसे अदा न करने के कारण पत्र ज़ब्त हो गया।

इसी बीच 1928 में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा के और 1930 में इण्टर, बी० ए०, एम० ए० परीक्षाओं के परीक्षक नियुक्त हुए। तब से बराबर परीक्षक होते रहे। सन् 1944 में उन्होंने कानपुर में अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन का अध्यक्ष-पद सुशोभित किया।

इसके अतिरिक्त पण्डित जी ने बीस ग्रंथ भी लिखे। उनका कार्य-क्षेत्र केवल लेखन तक ही सीमित नहीं रहा। राजनीति में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। राजनीति में वह लोकमान्य तिलक के ही अनुयायी रहे। सन् 1916 में वह तिलक की होमरूल लीग के उपाध्यक्ष थे। 1917 में कलकत्ता-कांग्रेस की स्वागत समिति के तथा सन् 18 में 'तिलक स्वराज्य संघ' के भी उपाध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सदस्यता भी उन्होंने वर्षों तक की और सन् 1921 में वह जेल भी गए। देशबन्धु चितरंजनदास, मौलाना आज़ाद और नेताजी सुभाष बोस उनके जेल के साथी थे। आज़ादी के बाद उ० प्र० विधान परिषद के सदस्य भी बनाए गए। इस सदस्यता की सौदेबाज़ी में सरकारी नेताओं ने उनसे कांग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार करने के लिए अनुरोध किया जिसे उन्होंने साफ शब्दों में ठुकरा दिया। वाजपेयी जी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कभी किसी के मनमाने प्रतिबंध स्वीकार नहीं कर सका।

जिस समय पूज्य पण्डित जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष-पद स्वीकार किया था, उस समय भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर हमारे राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ा खिचाव-तनाव था। पण्डित जी की निर्भीकता हमारे लिए प्रेरक शक्ति बनी। मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में पण्डित जी को पुरानी प्रथा का विचारक माना है। लेकिन मेरा अनुभव है कि पण्डित जी नये समय को गति देने में अब तक किसी नई प्रथा के विचारक से

पीछे नहीं रहे। उनके काम के महत्त्व को अपने अज्ञान के कारण हम नये लोग अभी ठीक तरह से पहचान नहीं पाए हैं। क्या ही अच्छा हो यदि कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय या अन्य पुराने पुस्तकालयों में सुरक्षित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लेकर कोई उत्साही व्यक्ति पूज्य वाजपेयी जी तथा उनके पूर्ववर्ती और समकालीन सम्पादकों की सम्पादन-कला और विचार-प्रणालियों पर रिसर्च करे और नये पत्रकारों के सामने उस अमूल्य सामग्री को लाए। समाजवादी देशों में ऐसे शोधकार्य अनिवार्य रूप से कराए जाते हैं। अपनी परम्पराओं की कड़ियों को सही तौर पर न जोड़ पाने वाला देश भला प्रगतिशील क्यों कर बन सकता है।

[1968]

महादेवी जी के सान्निध्य में

काव्य-व्यक्तित्व के अतिरिक्त महादेवी जी के दर्शन भी पहले-पहल मुझे 'चांद' ही के माध्यम से हुए थे। एक चित्र की स्मृति अब तक सजीव है। महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान और चन्द्रावती लखनपाल का चित्र छपा था। यह त्रिपुटी उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थी। चन्द्रावती आज विस्मृति जी के गर्भ में विलीन हो चुकी है।

हिन्दी, बंगला, गुजराती और मराठी की कविताएं अब भी बड़े चाव से पढ़ता हूं। देवनागरी लिपि में प्रकाशित उर्दू काव्य पढ़ने का चस्का भी 'चांद' ही की कृपा से लगा था, और अब तक है। पहले हिन्दी भाषा के अनेक नये-पुराने कवियों की बहुत-सी कविताएं मैंने याद भी की थीं। महादेवी जी की, 'मैं नीर भरी दुख की बदली', 'अश्रुमय कोमल, कहां तू आ गई परदेशिनी री', मैंने बहुत दिनों तक गुनगुनाई।

यह सब होते हुए भी उनके साक्षात् दर्शन पाने का सौभाग्य मुझे सन् '42-'43 से पहले न मिल सका। अगस्त-आन्दोलन के कुछ महीनों बाद बम्बई से घर गया था और निराला जी के दर्शन करने प्रयाग। उन दिनों वे गैरिक वस्त्र-धारी थे।

"महादेवी ते मिले हौ ?" उन्होंने पूछा। मेरे नकारने पर बोले, "चलो।"

इस प्रकार वर्षों की साध पूरी हुई। स्मृतिपट पर अब कुछ अंकित नहीं रह गया। तीन बातें याद हैं। एक महादेवीजी की हंसी। ऐसा लगता था कि जैसे उनके साथ-साथ उनके भीतर वाली कोई शक्ति उनके हंसने से होड़ ले रही हो। हम लोग आम तौर पर फुहारे की ऊपरी खिलखिलाहट को देखकर ही प्रसन्न होते हैं, उसके स्रोत का उल्लासमय वेग नहीं देखते। गीत में शब्द और राग दोनों ही की अपनी-अपनी महिमा भी है। भले ही गायक के मधुर कण्ठ रूपी व्यक्तित्व के प्रभाव से वे एक रूप होकर झलके और उस प्रभाव की महिमा अनन्य हो।

दूसरी बात फिल्मों से संबंधित थी। आदरणीय भाई वाचस्पति जी पाठक उन्हें शायद कुछ ही दिन पहले बतला गए थे कि मैंने 'संगम' नामक एक तत्कालीन फिल्म में प्रसाद जी का एक गीत ('अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को') प्रयुक्त किया है। कहने लगीं, "निराला जी और पंत जी के गीतों को भी फिल्मों में लेना चाहिए।"

तीसरी बात अगस्त सन् '42 के आन्दोलन से संबंधित थी। अंग्रेज़ सरकार ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को बड़ी बेरहमी से कुचला था। महादेवी जी उन दिनों ग्राम-सेवा-व्रतधारिणी थीं। अपने अनुभव, दमनचक्र से भयभीत दीन-हीन किसानों की दशा का वर्णन करते-करते एकाएक चुप हो गईं, फिर कहने लगीं, "हमारा आन्दोलन अब शायद अनेक वर्षों तक अपनी शक्ति न पा सकेगा।"

इसके बाद प्रयाग जाने पर उनसे कई बार मिला। उसी दौर में कब से मैंने उन्हें 'जीजी' कहना शुरू कर दिया यह अब याद नहीं आता।

जीजी फिर एम० एल० सी० हो गईं। उनके लखनऊ आने-जाने के बानक स्वाभाविक रूप से बनने लगे। जब आतीं, विधायक निवास से उनका टेलीफोन-संदेश मुझे मिलता। मैं दर्शन करने जाता।

स्व० पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त उत्तर प्रदेश की राजगद्दी छोड़कर दिल्ली की गद्दी संभालने जा रहे थे। विधायक-निवास के 'कामन रूम' में लेखकों, पत्रकारों और कलाकारों की ओर से उनका विदाई-समारोह मनाया गया था। कत्थक नटवरी नृत्य-सम्राट श्री शम्भू महाराज ने अपने नृत्य-प्रदर्शन से सभी को मुग्ध किया। जीजी भी उस समारोह में थीं। मुझपर जीजी का रोब गालिब देखकर समारोह के बाद महराज उनके पास गए और कहने लगे : "देखिए, आप नागर जी को डांटिए, ये मेरा काम नहीं करवा देते।" जीजी ने महाराज की तसल्ली के लिए मुझे तुरंत ही डांटा। यह बात अभी कुछ ही महीनों पहले लखनऊ रेडियो केन्द्र के एक 'स्टाफ आर्टिस्ट' संगीतकार ने प्रसंगवश सुनाकर मेरी याद ताज़ा की थी।

इसके बाद, सन्-सम्वत् ठीक-ठीक याद नहीं, शायद '54 या '55 की बात है, मगर यह याद है कि जून का अंतिम सप्ताह था, धर्मवीर भारती साहित्यकार संसद द्वारा ताकुला नैनीताल में आयोजित ग्रीष्म-शिविर के कार्यक्रमों में

भाग लेकर सीधे लखनऊ मेरे यहां आए थे। मैंने वहां के हाल-हवाल पूछे। भारती बोले, "वह सब भी सुनाऊंगा पर पहले जीजी का एक आदेश सुन लीजिए। आपको पन्द्रह दिनों के अन्दर भारतेन्दु जी की जीवनी पर आधारित एक नाटक लिखना है। नाटक लिखकर तुरंत इलाहाबाद आ जाइए। भारतेन्दु जी की जयन्ती के दिन 'रंगवाणी' का उद्‌घाटन समारोह होगा। समय कम है। नाटक का दिग्दर्शन भी आपको ही करना है।"

जुलाई के मध्य तक नाटक लिखकर मैं इलाहाबाद पहुंच गया और टैगोर टाउन में भारतभूषण अग्रवाल के यहां डेरा डाल दिया। उन दिनों पन्त जी भी टैगोर टाउन में ही रहते थे। उनका तथा बालकृष्ण राव जी का घर भारत के घर के पास ही था। शाम को पंत जी के घर पर हम सब इकट्ठा हुए। जीजी भी वहां आ गईं। नाटक सुना गया, सबको पसंद भी आया। जीजी बोलीं, "नाटक अच्छा है पर इसे रंगमंच पर भी अच्छा सिद्ध होना चाहिए। मामा (वरेरकर) बतलाते थे, मराठी का रंगमंच बहुत विकसित है। मैं उन्हें तो बुला ही रही हूं पर और भी अन्य भाषा-भाषी नाटककारों को बुलवाना चाहती हूं।"

मैंने कहा, "मैं अपनी भरसक कोई कसर न रखूंगा, आगे भगवान् नटराज मालिक हैं।"

रात में घर आकर इलाहाबाद के रंग-कलाकारों के संबंध में भारत भूषण से मिसकोट की। वे उन दिनों आकाशवाणी में काम करते थे। इलाहाबाद से पहले लखनऊ केन्द्र में थे। रेडियो का ड्रामा प्रोड्यूसर होने से पहले भी अपने रेडियो नाटकों के रिहर्सल मैं स्वयं ही कराने जाता था। भारत मेरी रुचि और आवश्यकताओं को भली भांति समझते थे। पात्रों के चुनाव में उनकी सलाह आम तौर से बेचूक हुआ करती थी। सब पात्रों का चुनाव हो गया। अब बचे स्वयं भारतेन्दु। वे समस्या बन गए। मैंने कहा, "बाह्य रूप से मेकअप में तो उसे भारतेन्दु लगना ही चाहिए पर उनके आन्तरिक व्यक्तित्व का निरूपण भी उसे खूबी से करना चाहिए। यह पहली शर्त है। तब मेरी जीत होगी।" मैं 'लगभग सच्चे' तक समझौता करने को राज़ी था पर इसके बाद नहीं। मैंने कहा, "मन का कलाकार न मिलने पर नया नाटक लिख दूंगा। और वह भी इस तरह से कि मंच पर भारतेन्दु की अनुपस्थिति ही नाटक के इंच-इंच में उनकी उपस्थिति का आभास करा दे।" भारत बोले, "आप मेरी बात मानिए, विजय बोस का 'ट्राई'

कर लीजिए। वे लगभग सच्चेवाली आपकी शर्त पूरी कर देंगे। यदि आपको रिहर्सल में संतोष न हो तो फिर दूसरा नाटक लिख दीजिएगा।"

उस चिन्ता-भरी रात के बाद का सवेरा भी याद रखने लायक बन गया। लगभग साढ़े आठ-नौ बजे पंत जी पधारे। पहले तो वे नाटक और उसके लिए मेरी जालीदार पर्देवाली तरकीब की प्रशंसा करते रहे फिर हंसकर कहा, "बन्धु, बुरा न मानिएगा, महादेवी जी को आपके भांग के गोलों की बड़ी चिन्ता है। कहने लगीं कि भांग-वांग पीके सो गए और नाटक की तैयारी में कसर रह गई तो बड़ी बदनामी होगी। मैंने उनसे कह दिया है बन्धु, कि आप बन्धु की तरफ से बिलकुल चिन्ता न करें। मैं उन्हें बहोत अच्छी तरह से जानता हूं। पर आपसे भी कहता हूं बन्धु, आजकल ज़रा गोले-वोले कम चढ़ाइएगा। और कुछ नहीं तो कहीं तबीयत ही खराब हो जाए।"

मुझे बड़ी ज़ोर से हंसी आई। पन्त जी से, मर्यादाबद्ध रहते हुए भी मैं मुक्त रूप से हंसी-मज़ाक कर लेता हूं, पर जीजी होने के बावजूद महादेवी जी से मेरा परिचय मात्र होने ही का नाता था। पन्त जी की इस बात के पीछे मुझे जीजी का मनोचित्र उभरता दिखाई दिया। स्वप्नवादिनी तो वे हैं ही साथ ही अपने सपनों को साकार करने के प्रति वे बड़ी लगन हठीली भी हैं। प्रयाग महिला विद्यापीठ इसका प्रमाण है। मूल रूप में निरालाजी को महत्त्व देने के लिए ही उन्होंने साहित्यकार संसद् की योजना बना डाली और उसे साकार करके ही दम लिया। हिन्दी रंगमंच की पुनर्स्थापना का स्वप्न उन दिनों उनके मनोलोक पर छाया हुआ था। लखनऊ में भारती से होनेवाली बातें उस समय मेरे मन में फिर गूंज उठीं। मैंने उसी दिन जाकर जीजी को अपनी ओर से शंका-मुक्त कर दिया। वहां भी खूब हंसी रही। खैर, दो-तीन रोज़ के भीतर जीजी यह जान गईं कि उनका रंगवाणी का सपना मेरा अपना सपना भी है।

मैं इस नाटक में नटराज उदयशंकर जी से सीखी हुई जालीदार पर्दे की, उस समय के हिसाब से नई, एक तरकीब का प्रयोग करना चाहता था। अपने बड़े बेटे चिरंजीव कुमुद से दो छोटे-छोटे नमूने के पर्दे रंगवाकर मैं साथ लाया था और पन्त जी के घर पर जीजी, राव साहब (श्री बालकृष्ण राव) और उमा जी को उसका करिश्मा दिखला चुका था। जीजी को पर्दे की तैयारी के संबंध में शंका थी, कहने लगीं, "देखो, जैसा तुम चाहते हो वैसा बन जाए। इलाहाबाद

तो बम्बई नहीं है।"

पेण्टर की तलाश हो रही थी पर राव साहब का मन नहीं भर रहा था। एक दिन उमा जी कहने लगीं, "महादेवी जी कह रही थीं कि ट्रक वाले पर्दे का मोह छोड़ ही दिया जाए तो अच्छा होगा। अगर खराब बना तो नाटक पर उसका दुष्प्रभाव भी निश्चित रूप से पड़ेगा।" लेकिन यहां मैं आसानी से समझौता करने को राज़ी न हुआ। राव साहब की शरण गही कि यह तो नाक का सवाल है, हमारी भी और आपकी भी। इलाहाबाद भले ही बम्बई न हो पर रेगिस्तान भी नहीं है। राव साहब की लगन भी जाग उठी। दो-तीन दिनों तक पेण्टर की खोज में वे इलाहाबाद का आकाश-पाताल एक करते रहे और अन्त में बम्बई के एक फिल्म स्टूडियो में काम कर चुकने वाले एक रंगसाज को ही उन्होंने इलाहाबाद की गलियों से खोज निकाला।

शौकिया रंगमंच के कलाकारों को आम तौर से नाटक के 'टका' आयोजकों से यह शिकायत बनी ही रहती है कि रिहर्सल के दिनों में वे लोग कलाकारों के चाय-नाश्ते का प्रबन्ध उनके मनोनुकूल नहीं कराते। लेकिन यहां तो स्वयं महादेवी जी ही 'मालिक कम्पनी' थीं। नाश्ता कराने के लिए वे स्वयं आती थीं। अपने-अपने दफ्तरों से सीधे रिहर्सल-स्थल पर आने वाले कला के भूतों को ऐसा संतोष कभी और कहीं नहीं मिला। पर मेरे लिए जीजी के कारण एक परेशानी भी पैदा हो गई। जलपान कराने के बाद वे रिहर्सल देखने के लिए बैठ जाती थीं। उनके रोब के मारे मेरे कलाकार काठ हो जाते थे। यह तमाशा दो दिनों तक चला। मैं घबराया पर यह घबराहट ऊपर की ही थी। मन को यह विश्वास था कि यदि जीजी से कहूंगा तो वे बुरा नहीं मानेंगी। और अपनी विपदा मैंने उनसे निवेदित भी कर दी। कहने लगीं, "अच्छा भाई, कल से नहीं बैठूंगी। पर नाटक के दिन बड़े-बड़े साहित्यिक आएंगे। तुम्हारे कलाकार जब मुझीसे इतना घबराते हैं तो उस दिन क्या होगा?"

मैंने कहा, "मुंह पर रंग पोतते ही अभिनेता शेर हो जाता है। उस दिन की चिन्ता आप न करें।"

दूसरे दिन हम लोगों को जलपान कराने के बाद जीजी तुरंत उठ खड़ी हुईं। किसीने कहा भी कि थोड़ी देर विराजें परन्तु आप मेरी ओर देखकर हंसती हुई बोलीं, "ना भाई, ये मुझे मना कर चुका है। कहता है कि कलाकार मेरी उप-

स्थिति के रोब से घबरा जाते हैं।" 'रोब' शब्द उच्चरित करते न करते उनकी हंसी का झरना झर पड़ा।

मैंने अभिनेताओं को ललकारा। हमारी टोली के कलाकार सचमुच ही इलाहाबाद के नौरतन थे। जीजी की हंसी मेरे हाथ में चुनौती की तलवार बनकर खेली। और फिर तो ऐसा रिहर्सल जमा है कि मज़ा आ गया। एक दृश्य देखकर जीजी मगन हो गईं। उस दिन के बाद जलपान लेकर आना भी छोड़ दिया। जलपान-व्यवस्था के लिए कभी उमा जी, कभी दो लड़कियां और गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा कभी-कभी राव साहब तक उनकी ओर से बराबर उपस्थित होते रहे। वे स्वयं 'ग्राण्ड रिहर्सल' के दिन हॉल में ही पधारीं। हम शौकिया रंगमंच के गुनाह बेलल्ज़त ठोकरें खाने वाले प्रेमीजनों की कौम को ऐसा 'मालिक कम्पनी हाज़ा' बड़े नसीबों, बड़ी मुश्किल से मिलता है।

ग्राण्ड रिहर्सल के दिन वही हुआ जिसका कि जीजी को भय था, अर्थात् पर्दा अपना पूरा जादू न दिखा सका। अनिवार्य गड़बड़ियों को देखने के निमित्त ही मैं अपने द्वारा प्रदर्शित नाटकों के ग्राण्ड रिहर्सल में भीतर नहीं बैठा करता था। मैं दर्शकों में सबके पीछे अपनी कागज़-पेन्सिल संभाले बैठा था। नाटक पूरा होते ही अगली पंक्ति में मराठी के मूर्धन्य नाटककार स्व० मामा वरेरकर जी के साथ बैठी हुई जीजी के पास आया। उनका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने कहा, "चिन्ता न करें, जो आज देखा है वह कल न देखें इसीलिए आज ही देख लिया। मेरा तो यही अभीष्ट था पर आप लोगों जैसी कलामर्मज्ञ महान् विभूतियां भी भीड़ के साथ बेटिकट का तमाशा देखने घुस आईं तो भला बताइए मैं क्या करूं?"

मेरी विदूषकता से वातावरण कुछ बदल गया। मामा से मेरा घनिष्ठ परिचय था। उनकी उपस्थिति में प्रदर्शित कमज़ोरियों के कारण जीजी के मन पर एक झेंप-सी चढ़ी हुई थी। मैं उनके मन को पहचान गया। मैंने कहा, "कलाकारों की छोटी-मोटी चूकें कल आपको न दिखाई देंगी।"

"यह तो मैं भी समझती हूं। अभिनेताओं से विशेष शिकायतें आज नहीं हैं। सबने अच्छा काम किया, कल शायद और भी अच्छा करेंगे। पर तुम्हारा पर्दा अन्तिम दृश्य में तो सचमुच बड़ा बुरा लगता है। दृश्य की करुणा को ही आघात पहुंचाता है। यह तो बहुत ही बुरा लगता है। एक प्रयोग किया, नहीं

सफल हुआ, यह कोई लज्जा या दुःख की बात नहीं पर उसका प्रदर्शन करके नाटक का रस बिगाड़ना तो ठीक नहीं है। इससे तुम लोगों के कठिन परिश्रम के प्रति भी अन्याय होता है और दर्शकों के प्रति भी। तुम सादे नीले पर्दे का प्रयोग करो।"

जीजी का भय मेरे लिए निर्मूल था। दोष को दूर कर देना तनिक भी कठिन न था पर जीजी अब कुछ-कुछ हठ पकड़ गई थीं। मैं चुप ही रहा। न 'हां' कही न 'ना'।

दूसरे दिन नाट्य प्रदर्शन के बाद जीजी की संतोष-भरी, गर्व-भरी, आनन्द-मग्न श्रीमुख-छवि जो उस समय देखी थी वह मेरे मन में इस समय भी वैसी ही सजीव होकर उभर रही है।

हमारे घर के देवता : सुमित्रानन्दन पन्त

निराला जी सन् '29 के लगभग लखनऊ में आ बसे थे। प्राय: तभी से मैं उनके यहां आने-जाने लगा। निराला जी अर्वाचीन भारतीय कवियों में यदि सर्वाधिक किसीकी बातें किया करते थे तो पंत और गुरुदेव की। इन दोनों ही के प्रति वे होड़ में, रीझ में, रिसियान-खिसियान में अक्सर बहुत कुछ कहा करते थे। सन् '34 में डॉ० रामविलास शर्मा यहां विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए आ गए। कुछ समय के बाद वे निराला जी के साथ ही रहने भी लगे। मेरी-उनकी घनिष्ठता वहीं से बढ़ी। कभी-कभी नौजवानी के लहरे में निराला जी को छेड़ने के लिए हममें से कोई पंत या रविठाकुर की ऐंडी-बेंडी खोट निकालकर आप तरह देकर निकल जाता था और निराला जी ताव में आकर हमें डेढ़ घण्टिया लेक्चर पिला देते थे। निराला को पंत की अनेक कविताएं कण्ठस्थ थीं। गुरुदेव और पंत की शान के खिलाफ वे किसीसे एक वाक्य भी नहीं सुन सकते थे, आप भले ही तैश में आकर गाली तक दे बैठें। पंत जी के प्रति मेरा भक्तिभाव निराला जी की देन है। मैं समझता हूं कि डॉक्टर रामविलास के लिए भी यही एक बात कही जा सकती है।

उस ज़माने में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में जितने अधिक और नये-नये चित्र पंत जी के छपा करते थे उतने शायद किसी और के नहीं। अनेक हिन्दी-प्रेमी विश्वविद्यालय के छात्रों ने अपने यहां पंत के चित्र टांग रक्खे थे। मेरे लिए भी वर्षों तक पंत जी चित्रमात्र काव्यमात्र बातें मात्र ही रहे।

सन् '43 में बम्बई में पंत जी के पहली बार दर्शन हुए। श्री उदयशंकर के साथ वे बम्बई आए थे। बन्धुवर नरेन्द्र शर्मा से बम्बई में मेरी घनिष्ठता बहुत बढ़ गई थी, उन्हींके साथ पंत जी के दर्शन करने के लिए गया। कुछ दिनों बाद पंत जी दूसरी बार बम्बई पधारे और नरेन्द्र जी के घर पर ठहरे। महीनों हमारी सुख की शामें बीती हैं। नरेन्द्र जी का घर मेरे घर से अधिक दूर न था। पंत जी

शाम को वहां से चलकर मेरे यहां आते। मैं यह जानता था कि पंत जी अकेले समुद्र के किनारे सैर करने नहीं जा सकते, इसलिए जहां तक बनता, लाख काम छोड़कर पांच बजे तक घर लौटने का समय साधता था, फिर भी कभी न कभी देर हो ही जाती थी। कम्पाउण्ड में उनके लिए आराम कुर्सी रख दी जाती थी। पंत जी मेरी लड़की अचला से बातें किया करते थे। एक दिन मुझे लौटने में बहुत देर हो गई। जब घर आया तो पत्नी ने कहा कि पंत जी बड़ी देर तक तुम्हारी राह देखकर चौपाटी पर गए हैं। मैं हारा-थका एक प्याली चाय पीने की लालच में बैठा रहा परन्तु मन में यह बराबर लग रहा था कि अकेले सैर करने में पंत जी को अवश्य अटपटा लग रहा होगा। तब तक पंत जी भीड़ से बहुत घबराते थे। कुछ दिनों पहले ही नरेन्द्र जी पंत जी के सामने उनका मज़ाक उड़ाते हुए मुझे यह सुना चुके थे कि एक बार पंत जी कहीं भीड़ में फंस गए तो लौटकर नरेन्द्र जी से कहा कि, अरे नरेन्द्र वहां तो इतनी भीड़ थी कि देखो मेरे कोट का बटन टूट गया। चाय बन भी न पाई थी कि पंत जी लौट आए। मैं सहम रहा था कि उनके चेहरे पर थकन और परेशानी होगी मगर पंत जी तो उत्साह और उमंग में थे। अपने देर से आने की क्षमा-भरी सफाई देते हुए मैंने बात उठाई, पंत जी बोले, "पहले तो मैं सोचता रहा कि अगर बन्धु नहीं आए तो फिर मेरा घूमना आज न हो सकेगा। फिर मैंने सोचा कि आज मैं अकेला ही चलूं। अरे बन्धु, वहां तो बहोत लोग थे। मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। इसीसे एक राउण्ड करके चला आया।"

पहाड़ में यानी अल्मोड़ा की तरफ हमजोली आपस की बातों को 'सुख-दुख करना' कहते हैं। पंत जी मेरी बांह पर हाथ रक्खे शिवाजी पार्क की चौपाटी पर एक छोर से दूसरे छोर तक चार-छह चक्कर लगाते हुए मुझे अपने मन की बातें सुनाया करते थे, कभी अपने घर की, कभी इधर-उधर की, कभी सैद्धांतिक—यही उनका सुख-दुख करना था। मैंने कहा, "हां पंत जी, सुख-दुख करना तो रह ही गया परन्तु पंत जी, चौपाटी पर तो रोज़ ही इतने लोग रहते हैं, फिर आपने आज ही इतनी भीड़ क्यों देखी ?"

"रोज़ तो आप साथ में रहते हैं इसलिए भीड़ पर ध्यान ही नहीं जाता, सुख-दुख करने में ही मन लगा रहता है।"

ऊपर से कहने-सुनने में यह बात भले ही अटपटी लगे पर यह सच है कि पंत

जी जब अपने में रम जाते हैं तो उन्हें बाहर के लगाव का होश नहीं रहता। जब पंत जी का विचार-स्रोत फूटता है तो एक सहस्र धाराएं बह चलती हैं। पंत जी की सुख-दुख के मूड वाली बातों और साधारण बातों में निश्चित रूप से एक अन्तर होता है। सुख-दुख में प्राय: वे ही बोलते थे, मैं सुनता था। पंत जी की वाणी में बात का रस मूर्त हो उठता था। मैं कोरी काव्यात्मक शैली में लफ्फाज़ी नहीं कर रहा वरन् यह सच है कि पंत जी तब बच्चों के-से सरल, भोले, माता के समान अमित करुणामय, हठयोगी साधक-से कठोर और प्रकृति के समान विविध चित्र-भरे होते हैं। तब किसी बात पर यदि उनकी 'ना' निकलती है तो वह हिमालय-सी अडिग होती है। उनका स्वर अपनी सारी मिठास लेकर भी वज्रादपि कठोर हो जाता है। सुख-दुख के क्षणों में उनकी साधारण बातें भी निराली होती हैं।

सन् '46 में मद्रास में उदयशंकर जी की फिल्म 'कल्पना' के संवाद लिखने के लिए गया था। पंत जी ने उसके गीत लिखे थे। हाल ही में अपनी लम्बी बीमारी के बाद उन्होंने स्वास्थ्य-लाभ किया था। उन दिनों प्राय: बड़े खोए हुए रहते थे। उनके उदास चेहरे पर कान्ति विराजती थी। एक दिन बंगले के लॉन में मेरी बांह पर हाथ रखे मौन टहलते-टहलते वे सहसा खड़े होकर सामने वाले वृक्ष को सिर उठाकर देखने लगे। क्रमश: पलों के हेर-फेर में उनकी खोई आंखों में चमक बढ़ने लगी। मेरी बांह पर पंजे का उल्लास भरा दबाव बढ़ा, उमंग से बोले, "सामने देखिए बन्धु, कविताएं झर-झर झर रही हैं।" उसके दस-पन्द्रह दिनों के बाद ही 'स्वर्ण-किरण' की कविताएं कागज़ पर उतरने लगीं।

पंत जी ने मेरे औद्धत्य को अनेक बार अपनी करुणा से बांधकर मुझे संतुलित किया है। वह सब कथा फिर कभी ठंडे निर्लिप्त मन में लिख सका तो लिखूंगा। पंत जी ने मेरे बड़े कठिन क्षणों को बड़े ममत्व से दुलारकर हल्का बनाया है। मुझे बहलाने और उद्बोधन देने के लिए उन्होंने बम्बई में मुझे नियमित रूप से डेढ़-दो महीने तक कालिदास की रचनाएं सुनाई हैं। मैंने महाकवि से 'रघुवंश' पूरा सुना है और 'कुमारसंभव' तथा 'मेघदूत' के अनेक अंश भी। पंत जी ने बड़े प्रेम और आग्रह से मेरे उपन्यास 'महाकाल' के प्रूफ देखे हैं। 'बूंद और समुद्र' में प्रूफ की अशुद्धियां देखकर बोले, "श्रीनिवास से कह देते कि मुझे प्रूफ भेजते रहते, मैं देख देता।"

मैंने कहा, "हां, अब आपको ऐसे ही कष्ट देकर तो मैं अपने लिए जस मोल लूंगा न !"

सहज बोले, "क्यों, इसमें क्या हो गया बन्धु ?" मैं ये तो नहीं कह सकता कि सदा परन्तु प्राय: पंत जी सहज स्वरूप रहते हैं। जहां वे अपनी सहजता खोते हैं वहां उनकी सीमाएं भी सहज स्पष्ट हैं। उनका व्यक्तित्व इतना मधुर है कि उनकी छोटी-मोटी कमज़ोरियां भी मीठी लगती हैं। कोई मनुष्य पूर्ण नहीं होता, भले वह महापुरुष ही हो। यह सब होते हुए भी सहजभाव पंत जी के व्यक्तित्व की दिव्य शक्ति है।

मद्रास में एक दिन शाम को जेमिनी स्टूडियो से लौटकर घर आया तो देखा बंगले की सीढ़ियों पर मेरी पत्नी और पंत जी बैठे थे। पंत जी का चेहरा चमक रहा था। मुझे देखते ही बोले, "अरे बन्धु, प्रतिभा जी को तो बहुत अच्छी-अच्छी कहानियां याद हैं। अब मैं रोज़ इनसे कहानियां सुना करूंगा।" और उसके बाद कुछ दिनों तक तीसरे पहर कहानियां सुनने के लिए ऐसे अकुलाते थे जैसे बच्चे अकुलाते हैं। बन्धुवर नरेन्द्र जी और पंत जी दोनों ही आपस में एक-दूसरे का खूब मज़ाक उड़ाते हैं। बड़ा मज़ा आता है। मद्रास में मैंने तमिल पढ़ने के लिए एक अध्यापक रखा था। श्री कृष्णस्वामी मुदलियार काशी में सेंट्रल हिन्दू स्कूल में अध्यापक रह चुके थे, हिन्दी, बंगला और फारसी भाषाएं भी जानते थे। पंत जी के प्रति उनका आदरभाव था। एक बार नरेन्द्र जी वहीं थे। प्रात:काल छह-साढ़े छह के लगभग जैसे ही मुदलियार जी मुझे पढ़ाने आए वैसे ही पंत जी ने कमरे में प्रवेश कर धीमे स्वर में उनसे पूछा, "पंडित जी, तमिल में सबसे बड़े मूर्ख को क्या कहते हैं ?"

मुदलियार जी एक बार तो हक्के-बक्के होकर पंत जी को देखने लगे फिर कहा, "मुट्टाड़ !" पंत जी बच्चों की तरह हंसे और शब्दों को दो बार दुहराकर चले गए। मुदलियार जी से न रहा गया, मुझसे पूछा, "पंत जी ने यह शब्द क्यों पूछा ?"

मुझे हंसी आ गई। मुदलियार जी बोले, "मैं तो इन्हें बहुत गंभीर समझता था।" मैंने कहा, "गंभीर तो वे हैं ही पर बड़े विनोदी भी हैं।" उस दिन बार-बार नरेन्द्र जी को मुट्टाड़ कहकर संबोधित किया गया और फिर कुछ वर्षों

तक यह शब्द हमारे बीच में खेलता रहा।

नरेन्द्र जी की पत्नी सौ० सुशीला जी और मेरी पत्नी को वे हम लोगों से अपने पैरों में महावर लगवाने का उपदेश दिया करते थे। मैं और नरेन्द्र जी एक तरफ तथा ये तीनों एक तरफ होकर घंटों मज़ेदार वाक्‌युद्ध किया करते थे। पंत जी के व्यक्तित्व ने मुझे ही नहीं मेरे घर-भर को बहुत प्रभावित किया है। पंत जी हमारे घर के देवता हैं।

[1960]

यशपाल 'बड़ा ठोस आदमी है'

अंग्रेज़ी राज में जब भारतरत्न स्व० पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत ने पहली बार यू०पी० की वज़ारत का कलमदान संभाला, तो क्रांतिकारियों की लम्बी-लम्बी सज़ाएं माफ करके उन्हें मुक्त कर देने के प्रश्न पर एक बार लाट साहब और पंत जी में तनातनी हो गई थी। मुझे इस घटना की याद इसलिए है कि मैंने अपने साप्ताहिक पत्र 'चकल्लस' के 'नवाबी मसनद' नामक स्तंभ में एक स्केच लिखा था। अंग्रेज़ी राज में कांग्रेसी वज़ारत आ जाने से एक नवाब साहब खुशामद में कांग्रेस के चवन्नियां मेम्बर बन गए थे, लेकिन जब बम बनाने वाले मसलों पर साहबे-आलीशान हुज़ूर लाट साहब ने नाराज़ होकर 'पंथ जी' से वज़ारत का कलमदान छीन लिया तो नवाब साहब को यह हौलदिली हुई कि कांग्रेस के मेम्बर बन जाने से लाट साहब कहीं नवाब साहब से नाराज़ न हो जाएं। खैर, लाट साहब ने पंत जी को वज़ारत का कलमदान वापस लौटा दिया और क्रांतिकारियों को छोड़ने की आज्ञा भी दे दी। मुझे याद है, हमारे चौक में मुक्त होनेवाले क्रान्तिकारियों का शानदार जुलूस अकबरी दरवाज़े की तरफ से आया था। कोठेवालियों ने अपने-अपने कोठों से और दुकानदारों ने अपनी दुकानों में खड़े होकर उनपर फूल बरसाए थे। जोगेश चटर्जी, मन्मथनाथ गुप्त, शचीन्द्रनाथ बख्शी आदि के नाम याद आ रहे हैं, शायद कुछ एक और भी थे उनके नाम दुर्भाग्यवश इस समय ध्यान में नहीं हैं। हां, यह अवश्य याद है कि यशपाल उस जुलूस में नहीं थे। वे शायद उसके कुछ समय बाद जेल से छोड़े गए थे।

क्रान्तिकारी यशपाल की मुक्ति और साहित्यिक यशपाल के उदय होने का समय मेरी स्मृति में कहीं आस ही पास है। जहां तक ध्यान पड़ता है कलकत्ता के मासिक 'विश्वमित्र' में उनकी पहली कहानी 'मक्रील' प्रकाशित हुई थी। अपनी पहली कहानी से ही यशपाल ने अपनी ऊंची साहित्यिक हैसियत का

परिचय दे दिया था।

यशपाल लखनऊ में जम गए। हीवेट रोड पर बजरंग बली के मन्दिर की बगल में मकान लिया। सुना, अखबार निकाल रहे हैं। यह भी सुना कि अब वे जमकर लिखेंगे। यशपाल से मिलने की इच्छा शहर के हम सभी नौजवान लेखकों को थी। डॉ० रामविलास शर्मा, 'चकल्लस' में मेरे साथी संपादक (स्व०) नरोत्तम नागर और हम सबमें जेठे, अवधी के अलबेले कवि (स्वर्गीय) बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', सभी यशपाल जी से बातें करना चाहते थे। एक दिन 'पढ़ीस' जी उनके घर पहुंचे। वह यशपाल जी के काम करने का समय था। वे पढ़ीस जी से मिलने के लिए बाहर तो अवश्य आ गए, किन्तु उनकी बातों से पढ़ीस जी को यह अन्दाज़ लगा कि यशपाल जी से समय नियुक्त करके ही उनका मिलना उचित होता। हम लखनवी-अवधी संस्कारों के पले तरुण, विचारों से भले ही बड़े उग्र और प्रखर हों, लेकिन समय की सही कीमत हम लोग, तब कम जानते थे। शायद आज भी हमारे यहां समय की कीमत जानने वाला वातावरण नहीं बन सका है। खैर, उस समय हम लोग कुछ-कुछ बुरा मान गए। उनका साहबी रहन-सहन हमारी गपबाज़ी में नुक्ताचीनी का विषय बना।

यशपाल का 'विप्लव' प्रकाशित हुआ। 'चकल्लस' सम्पादक के नाम पहले अंक की प्रति मुझे मिली। मैंने अंक पढ़कर एक पत्र में अपनी प्रशंसा व्यक्त की, साथ ही उनके क्रांतिकारी व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा भी प्रकट की। इसके बाद पूरे शिष्टाचार के साथ मिलने का समय मांगा।

मुझे उनके कसे हुए चौड़े कपाल और उभरी ठोढ़ी वाले तिकोने चेहरे पर घनी काली रोबोली भौंहों की अपने ऊपर पड़नेवाली पहली छाप खूब अच्छी तरह से याद है। यशपाल अगर मुंछमुंडे न होकर पुराने पंजाबियों की तरह से मूंछों वाले होते तो उनकी घनी मूंछें जो असर डालतीं, वही असर उनकी भौंहें डालती थीं। यशपाल में शिष्टाचार इस तरह से 'ए-बी-सी-डी' नुमा था कि लगता था जैसे जंगल का शेर शहरी सभ्यता के रोज़मर्राही सरकस के वास्ते पकड़कर लाया गया हो, और शेर स्वयं अपना ही रिंगमास्टर बनकर नये व्यवस्थित जीवन की सारी बारहखड़ी पूरी सतर्कता के साथ दोहराता हो। इस शिष्टाचार पक्ष के अलावा उनका एक दूसरा पक्ष जो बातों में अत्यन्त सहज उभरा, वह उनकी वैचारिक प्रतिभा का था। दो-चार बातों में ही एक जगह पर यह मेरे मन को

टक-से छू गए। मैंने उनका अधिक समय न लिया और चला आया। मुझे याद है, मैंने नरोत्तम नागर और रामविलास शर्मा, दोनों ही मित्रों से कहा था कि यशपाल जी हौवा नहीं है, मिलने लायक आदमी हैं।

यशपाल जी से मेरी घनिष्ठता मेरे बम्बई से लौटकर आने के बाद बढ़ी। यशपाल जी का बेटा चिरंजीव नन्दू मेडिकल कॉलेज में बीमार पड़ा था। एक दिन यशपाल जी मुझे साइकिल पर आते हुए सिटी स्टेशन के चौराहे के पास मिले। मैं इक्के पर कहीं से लौट रहा था। यशपाल जी को देखकर मैंने इक्का रुकवा लिया और इधर आने का कारण पूछा। नन्दू की बीमारी का हाल जानकर मैं अस्पताल में उसे देखने गया। तब वह शायद तीन या चार बरस का था। कुछ ऐसे ढंग से मेरी और नन्दू की भेंट हुई कि हम पहली ही भेंट में बड़े दोस्त बन गए। सौ० प्रकाशवती भाभी से भी मिलने का अवसर मुझे तभी मिला।

सन् '50 या '51 के आसपास सर्वश्री नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और कृष्ण नारायण कक्कड़ के प्रयत्नों से लखनऊ लेखक संघ की स्थापना हुई। उसकी बैठकें नियमित और जोशीली होती थीं। रचनात्मक सक्रियता और वैचारिक स्फूर्ति की दृष्टि से लखनऊ की साहित्यिक गतिविधियों के लिए वह समय उम्दा था। यशपाल जी को वैचारिक अंतरंगता में पहचानने के लिए तब जल्दी-जल्दी अवसर मिलने लगे। भगवती बाबू और श्री आनन्द नरायन मुल्ला ने साहित्य समाज की स्थापना की थी। उसकी बैठकों में भी मिलना-जुलना होता रहा। इस प्रकार हम लोग क्रमशः मन से एक-दूसरे के निकट आते गए।

यशपाल जी, भगवती बाबू और मेरे अपने-अपने मत-मतान्तर हैं और अपनी-अपनी जीवन-दृष्टि है, फिर भी एक जगह पर हम तीनों आपस में गहरा एका भी अनुभव करते हैं। हम तीनों का एक विशेष सौभाग्य रहा सम्पादकाचार्य स्वर्गीय अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी और 'सरस्वती' सम्पादक साहित्य-वाचस्पति रायबहादुर पं० श्री नारायण जी चतुर्वेदी का वरदहस्त हमें अपने ऊपर प्राप्त रहा। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी हिन्दी सम्बन्धी कोई कार्यक्रम बनने पर चश्मे के ऊपर से अपनी पैनी आंखें निकालकर मुझसे पूछते, "यशपाल को दिखाय लिया है न? यशपाल बड़ा ठोस आदमी है, ठोस सलाह देता है। कर्मठ है।" पूज्य वाजपेयी जी के इस कर्मठता और ठोसपन वाले मन्तव्यों को समझने लायक प्रौढ़ता तब तक मुझमें आ चुकी थी। अपने बम्बई जीवन से मैं समय की कीमत

जानकर घर लौटा था। वाजपेयी जी सदा इतने कर्मठ और समय के पाबन्द रहे कि वे दूसरे के इस गुण को भली भांति परख सकते थे। श्रद्धेय भैया साहब (चतुर्वेदी जी) यशपाल जी की हिन्दी निष्ठा के बड़े प्रशंसक हैं।

यह सच है कि राजधानी की राजनैतिक आंधियों में जब-जब हिन्दी पर संकट आया तब-तब स्थिति को सही और मजबूत ढंग से संभालने के लिए इस नगर को यदि महाविभूतियां न मिलतीं तो शायद हमारा बहुत अमंगल हो सकता था। भाषा जन की होती है, जब राजनीतिक शक्तियां अपनी बहक में जन से दूर हो जाती हैं तब भी भाषा उनसे कभी दूर नहीं होती। यशपाल जी के वे संस्मरण आगे कभी अपने भोगे हुए जीवन-काल का मूल्यांकन करते हुए लिखूंगा। पर उस सारे प्रसंग में यशपाल जी की कई विशेषताएं बारीकी से पहचान में आईं। हर बात को यथार्थ की कसौटी पर कसना, हर काम को ठीक समय पर करने की चुस्ती, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि, सूझबूझ आदि कई गुण निश्चय ही मेरे लिए अनुकरणीय रहे हैं। पूज्य वाजपेयी जी यशपाल की इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें ठोस कहते थे। भगवती बाबू और यशपाल जी के 'एक्शन' सम्बन्धी विचार अक्सर समान होते थे। मुझे अपनी चौकशाही मुरौवत के दायरे से निकलकर यथार्थ को उसे सही बोध के साथ स्वीकार करके 'एक्शन' का क्षण न चूकने की ट्रेनिंग इन्हीं अंग्रेजों से मिली। हम तीनों में एक भी व्यक्ति संकीर्णतावादी नहीं है। हम तीनों अपने दृष्टिकोणों को खूब साफ रखते हैं।

यशपाल जब पहली बार सोवियत यूनियन के देशों का भ्रमण करके लौटे तो नगर महापालिका के पुराने सभागार में एक सम्मान-सभा आयोजित हुई थी। हॉल खचाखच भर गया था। हमने यशपाल से एक नई दुनिया का हाल सुना। यशपाल जी ने कर्मठ और सम्पन्न रूसी जीवन के ऐसे जीते-जागते चित्र उस सभा में प्रस्तुत किए थे कि हम लोग मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रहे। मुझे याद है कि कलकत्ता युनिवर्सिटी के हिन्दी विभागाध्यक्ष स्व० प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल, जो उन दिनों यहां पर थे, हमारे साथ यशपाल जी का भाषण सुनने के लिए गए थे, वे उस भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। यह सच है कि उस दिन का ऐसा भाषण मैंने भी यशपाल जी से कम ही सुना है।

उस घटना के वर्षों बाद जब सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार प्राप्त करके वे प्रकाशवती भाभी के साथ रूस-यात्रा पर गए तो वहां से अपनी पुस्तकों की रूसी

रायल्टी के पैसे पर वे सौ० बेटी, दामाद और दोहते से मिलने के लिए कैलीफोर्निया भी गए थे। लौटकर आने पर भगवती बाबू, ज्ञानचन्द्र जैन और मैं यशपाल जी से मिलने के लिए उनके घर गए।

मैंने पूछा—"आप रूस कई बार हो आए हैं, अब की अमेरिका की एक झलक भी देख ली। संक्षेप में आपसे दोनों का तुलनात्मक अध्ययन चाहता हूं।"

यशपाल बोले, "मुझे दोनों ही जगह सम्पन्नता अधिक दिखलाई दी। अमेरिकी मज़दूर दस से बारह डालर तक रोज़ कमा लेता है। अपने ढंग से वे भी समाजवाद की ओर बढ़ रहे हैं। वैसे सोवियत यूनियन के देशों का केवल पचास वर्षों में और वह भी महायुद्ध का झटका सहकर, अपने-आपको समृद्ध बना लेना हौसला दिलाने वाली बात है। मेहनत में अमेरिकी भी कम नहीं हैं। रूसी-अमेरिकी दोनों ही काम और मेहनत करना जानते हैं, साथ ही मौज मनाना भी।"

यशपाल जी की यह बातें सुनकर हम सभी को लगा कि केवल कामकाजी और कठिन परिश्रमी राष्ट्र के लोग ही जीना जानते हैं। निकम्मे बुल्लड़ियों को न जीना आता है न मरना। अपनी सैद्धांतिक विजय के लिए भी किसी राष्ट्र को पहले संगठित और शक्ति-श्रीसंपन्न बनना ही पड़ता है। हिंदी के यशपाल केवल हिन्दी के ही नहीं रहे। उनका नाम सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं, योरोप की अनेक तथा सिंहली, जापानी आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तक पढ़नेवाले पाठकों के लिए भी अब एक प्रिय और सम्मानित नाम हो चुका है। यशपाल और भगवतीचरणवर्मा को पाकर यह नगर धन्य है।

प्रकाशवती भाभी सचमुच उनकी सहधर्मिणी हैं। यशपाल जी के जीवन में वे इस तरह से घुली-मिली हैं कि उनके बिना यशपाल जी को सोच पाना भी मुझे असंभव लगता है। इतनी कुशल व्यवस्थापिका, शांत, गम्भीर और व्यावहारिक स्त्री कम ही देखने को मिलती है। मेहनत करने में भाभी पक्की पंजाबिन हैं। यह सच है कि भाभी ने प्रेस प्रकाशन का सारा काम-काज संभालकर यशपाल जी को लेखक बना रहने के लिए अपनी ओर से पूरी आज़ादी दे रखी है।

यशपाल और सौभाग्यवती भाभी अब अपने घर में चि० नन्दू और सौभाग्यवती बहूरानी की निगरानी में आ गए हैं। उनका सबसे बड़ा गार्जियन उनका चि० पोता है, वह एक कठिन श्रम-तप से तपे दाम्पत्य जीवन को उचित सुख-शान्ति दे रहा है। [1970]

चिरयुवा भगवतीचरण वर्मा

भगवती बाबू आयु में मुझसे एक युग और कुछ महीने बड़े हैं। इस हिसाब से वे मेरे छोटे चाचा भी हो सकते थे और बड़े भाई भी। चूंकि हम लोग हिन्दी की नातेदारी से मिले, इसलिए वे मेरे बड़े भाई बने। आपसी सम्बोधन में मैं उन्हें गुरु कहता हूं और वे मुझे। न भगवती बाबू मुझसे मज़ाक करने में चूकते हैं और न मैं उनसे। यह होते हुए भी बड़े भाई वे सवा सोलह आने हैं, जिस किसीने भी मुझपर उन्हें रोब जमाते देख लिया होगा, वह ही मेरी वात का समर्थन करेगा।

हमारा एक रिश्ता और है, भगवती बाबू 'नेता' हैं और मैं 'जनता'। उनके नेतृत्व में मैंने अनेक तरह के काम किए हैं—साहित्यिक आयोजन, नाटक, 'गेजिंग' और चकल्स तो रोज़ ही होती है। स्कीमों के वे सम्राट हैं, किसी भी प्रकार के धंधे की स्कीम वे मिनटों में बना देते हैं। लेकिन यह शर्त होती है कि कम से कम पच्चीस हज़ार रुपयों की स्कीम बनाते हैं, इससे कम की स्कीम बनाना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। पच्चीस हजार से पच्चीस-पचास करोड़ तक का हिसाब वे तन्मयता के साथ फैलाते हैं कि मालूम पड़ता है कि अभी अपने मुनीम को बुलाकर वे तुर्त-फुर्द चेक ही काट देंगे।

एक बार बम्बई में उन्हें फिल्म प्रोड्यूसरों पर ताव आया, कहने लगे, "इन लोगों को जवाब देने के लिए एक फिलम कम्पनी खोलनी ही पड़ेगी।" उस समय तक भगवती बाबू गंभीर थे। कुछ पूंजीपतियों से गंभीरतापूर्वक बात भी चलाई, किन्तु बात पक न सकी। उन्हें पूंजीपतियों पर भी ताव आ गया। एक दिन शाम को शिवाजी पार्क स्थित मेरे घर पर बैठकर उन्होंने कहा, "गोली मारो जी इन सेठों को, मैं जनता के पैसे से फ़िल्म कम्पनी खोलूंगा।"

मैंने पूछा, "क्या दस-दस रुपये वाले शेयर बेचिएगा ?"

बोले, "नहीं, इसमें बहुत समय जाएगा, सोचता हूं कि एक ऐसी इंश्योरेन्स कम्पनी खोलूं जिसमें मिडिल क्लास ही नहीं, बल्कि गरीब से गरीब मज़दूर-घसियारा भी अपनी जान का बीमा करा सके।"

मैंने कहा, "मज़दूर-घसियारे आपकी कम्पनी का प्रीमियम कैसे अदा कर सकेंगे ?" प्रश्न पूछते हुए मैं अब हल्की लहर में उतर आया था।

भगवती बाबू बोले, "इसमें सोचने की बात ही क्या है, वो तो मैं पहले ही तय कर चुका। हम घसियारों की इंश्योरेन्स स्कीम चलाएंगे, रोज एक पूला घास उनसे प्रीमियम के तौर पर वसूल की जाएगी। मज़दूरों को खैर हम लोग बाद में इंश्योर करेंगे जब हम लोग कम्पनी की बिल्डिंग बनवाएंगे तब। इसके अलावा फल-तरकारी वालों से फल-तरकारियों का प्रीमियम लेंगे। प्राइवेट ट्यूटरों से एक ट्यूशन की फीस लेंगे। हम कम्पनी की तरफ से रेडीमेड कपड़ा भी सिलवाया करेंगे। मोचियों से जूते गठवाएंगे। एक लांड्री भी खोल देंगे। धोबियों का प्रीमियम धुलाई में आएगा। अरे बिज़नेस करने वालों के लिए काम की कमी नहीं है, स्कीम अच्छी होनी चाहिए।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, हलवाइयों को भी शामिल कर लीजिए, उनसे मिठाई का प्रीमियम मिलेगा।"

बोले, "नहीं तुम भंग छानते हो, गबन करोगे,मुफ्त में तुम्हारे विरुद्ध पुलिस केस तैयार करवाना पड़ेगा।"

इस बात का जवाब भला मैं क्या देता ? अपनी कमजोरी से इन्कार तो कर ही नहीं सकता था, लिहाज़ा बात आगे बढ़ाई। पूछा, "इन धंधों में ही आप फंस जाइएगा, तो कम्पनी कब खुलेगी ?"

बोले, "पहले समझने की कोशिश करो। इंश्योरेन्स कम्पनी का काम बढ़ जाने पर हम उसके पैसे से एक बैंक खोलेंगे और फिर किसी फिल्म स्टूडियो को गिरवी रखेंगे और ब्याज में वहां फिल्म बनाएंगे।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू स्टारों को क्या होगा ? उन्हें कहां से रुपया दिया जाएगा ?"

बोले, "मोची-घसियारों की तरह उनका भी इंश्योरेन्स किया जाएगा। यह जनता का काम है। हम सबके साथ एक सा ही व्यवहार करेंगे। अरे, तुम समझते क्या हो जी ! पचास करोड़ की कैपिटल से फिर एक कच्ची फिल्म उत्पादन

का कारखाना, कैमरे, साउंड मशीन बनाने का कारखाना, स्टूडियो, फिल्म-कम्पनी सभी कुछ खुल जाएगा।"

इस प्रकार बीमा कम्पनी, बैंक, फिल्म-स्टूडियो और फिल्मी कारखाने चालू हो गए, हम लोगों की तनख्वाहें निश्चित हो गईं, कुछ फिल्म-स्टारों का भाव चढ़ा दिया गया, कुछ का गिरा दिया गया। दो-तीन घंटों में ज़बानी दुनिया पर बड़ा उलट-फेर करके बात आई-गई हो गई। उनकी यह स्कीम मित्रों में अति प्रचारित हुई। स्कीम आज तक समाप्त नहीं हुई, केवल कभी फिल्म-स्टूडियो के बजाय प्रेस और अखबार चल जाता है, कभी राजनीति की शतरंज ली जाती है और कभी विश्व राष्ट्रसंघ की टक्कर में विश्व जनसंघ का बैंक खुल जाता है।

इन योजनाओं के पीछे भगवती बाबू का चुहल-भरा दिमाग तो चलता ही है, पर अक्सर वे बड़ी ठोस योजनाएं भी बनाते हैं। लेकिन उन योजनाओं को कार्यरूप में परिणत कर देना उनके वश की बात नहीं। भगवती बाबू यदि कवि न हुए होते, तो आज वे आई० सी० एस० अफसर भी हो सकते थे और राज-नीतिक नेता— मंत्री भी। आरंभ में यदि अनुकूल परिस्थितियां मिल जातीं तो शायद वे सफल उद्योगपति भी हो सकते थे। उनके व्यक्तित्व में तीनों की विशेष-ताएं हैं, पर दुनियादारी की दृष्टि से दुर्भाग्य है कि भगवती बाबू शुरू से ही कवि निकल गए। अच्छा हुआ, व्यक्ति का दुर्भाग्य साहित्य का सौभाग्य बन गया।

भगवती बाबू से मेरा प्रथम परिचय सन् 1934 में 'माधुरी' कार्यालय में हुआ। श्रद्धेय रूपनारायण जी पांडेय 'माधुरी' के सम्पादक थे, भगवती बाबू उनसे मिलने के लिए आए थे। उनकी 'चित्रलेखा' हाल ही में प्रकाशित हुई थी और मैं उसके परम प्रशंसकों में से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है, बात 'चित्रलेखा' को लेकर ही आरम्भ हुई। पहले तो भगवती बाबू 'तुम क्या समझोगे' वाले मूड में रहे, परन्तु मेरी दो-एक बातों ने उन्हें शायद बांध लिया। पांडेय जी ने उपन्यास की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा, इसलिए सब मिलाकर भगवती बाबू का मूड बन गया। 'माधुरी' कार्यालय से उठते हुए उन्होंने मुझसे 'चलते हो' इस अन्दाज़ से कहा, मानो हमारी पुरानी घनिष्ठता है। अनायास ही भगवती बाबू से यह अपनापा पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होने की बात ही थी। भगवती

बाबू उस समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे और मैं नया-नया ही छापे की दुनिया में आया था। हजरतगंज में हम लोगों ने एक जगह पान खाए और टहलते हुए ही कैसरबाग के चौराहे तक आए।

इसके बाद एक बार कानपुर में हितैषी जी के यहां दर्शन हुए, फिर एक बार इलाहाबाद में।

सन् '38 या '39 में उनके चचेरे भाई का आपरेशन लखनऊ मेडिकल कालेज में हुआ था, भगवती बाबू तब शायद एक या दो महीने लखनऊ में जमकर रहे थे। मेडिकल कालेज से मेरा घर पास पड़ता था। भगवती बाबू अक्सर मेरे यहां चक्कर लगा जाते थे। उन दिनों की एक बात नहीं भूलती। एक दिन बोले, "यार, कहीं से पैसे आने चाहिए।" मैंने कहा, "गंगा पुस्तकमाला से ही प्रबन्ध हो सकता है। चलिए, दुलारेलाल जी के यहां चलें।" बोले, "तुम क्या समझते हो कि मेरे मन में यह बात नहीं उठ सकती थी ? मैं पहले ही हो आया। भार्गव एडवांस नहीं देना चाहते, किताब मांगते हैं, किताब ही होती तो मैं भार्गव जी के पास जाता !"

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे ही वे मेरे यहां आए, बोले, "नोट-बुक खरीद ली है, एक कविता-संग्रह आज ही कम्पलीट कर डालूंगा।" मुझे हंसी आ गई, भगवती बाबू बोले, "तुम क्या समझते हो, अतुकांत कविताएं लिखने में भला समय लगता है। आज खींचे डालता हूं।" दूसरे दिन शाम को भगवती बाबू फिर आए। बादशाही मूड में थे, उनकी जेब में पैसे थे, बोले, "भार्गव को कविता-संग्रह दे आया।" मुझे आश्चर्य हुआ। भगवती बाबू हंस पड़े, बोले, "अरे, कविता लिखने में कुछ लगता है। पहले मैंने नोट-बुक के पृष्ठों को गिना, फिर उतनी ही कविताएं लिख डालीं और संग्रह का नाम 'एक दिन' रख दिया, क्योंकि एक ही दिन में कम्पलीट किया था।" उस समय मैं भले ही हंसा होऊं परन्तु आज के काव्य कलामानों को देखकर अब तो यही कहना पड़ता है कि हमारे नेता जी ही प्रगतिशील, प्रयोगशील और नई कविता के बाबा आदम हैं।

भगवती बाबू ने तब से अब तक पद्य की अनेक सुन्दर और श्रेष्ठतम रचनाएं हमें दी हैं, पर मैं उनके 'एक दिन' को एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानता हूं। यह महत्त्व उनकी मस्ती का है जो उन्हें हर स्थिति में अजेय बनाकर रखती है। मैं उनकी मस्ती के सम्बन्ध में अधिक क्या कहूं, इतना कहना ही यथेष्ट है

कि भगवती बाबू के कारण बड़ी से बड़ी निराशा पाने पर भी मैं कभी बुझ नहीं पाया। उनकी ज़िंदादिली मेरा आदर्श है। जीवन की विषमतम मारें खाए हुए मेरे इस बढ़े भाई के चेहरे पर आपको एक भी कठोर रेखा नहीं दिखाई देगी। जीवन की बड़ी-वड़ी पराजयों के कालकूट को हिन्दी का यह भोलाभंडारी और मस्त कलाकार न जाने कितनी बार हंस-हंसकर पचा चुका है। कभी-कभी हृदय भर जाने पर विवश होकर अपने अन्तरंग मित्रों के बीच में भगवती बाबू अपने दिल की बातें भी कर लेते हैं। मुझे इस समय ऐसी अनेक स्मृतियां स्पर्श कर रही हैं। उनका बचपन, नौजवानी और जवानी अर्थ-पिशाच के साथ निरन्तर जूझते ही बीती है। भगवती बाबू ने ऐसे भी दिन देखे हैं जबकि एक कुप्पी मिट्टी का तेल खरीदने की सामर्थ्य न होने के कारण महीनों उनके यहां चिराग नहीं जला। भगवती बाबू ने कब-कब कितना सहा है, यह सब इस छोटे-से स्केच में कहा नहीं जा सकता। एक दृष्टि से देखा जाए तो उन बातों का विशेष महत्त्व भी नहीं है। निखार पाने के लिए सोने को भट्टी में तपाना ही पड़ता है, लोक-पूजित होने वाली देवमूर्ति पहले अपने निर्माता शिल्पी के हज़ार हथौड़ों की चोट सहती है तब जाके संवरती है। 'भूले-विसरे चित्र' और 'सीधी-सच्ची बातें' जैसे उपन्यास वही समर्थ कलाकार रच सकता है जो अनुभव-सिंधु को अगस्त्य के समान आचमन कर सके। यह दोनों उपन्यास अपने-आप में सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी यदि मिलकर पढ़े जाएं तो पिछले 80-90 वर्षों में हमारे बदलते हुए सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक और आर्थिक मूल्यों की एक क्रमबद्ध कहानी बन जाते है। 'भूले-बिसरे चित्र' और 'सीधी-सच्ची बातें' उपन्यास साहित्यिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, साथ ही भावी इतिहास-लेखक के लिए 19 वीं शती के अन्तिम डेढ़ दशकों से लेकर सन् 1948 ई० तक की प्रामाणिक सामग्री संजोने के कारण उनकी गरिमा और बढ़ गई है। भगवती बाबू की लेखनी केवल इस काल तक का जीता-जागता रूप प्रस्तुत करके विश्राम नहीं करना चाहती वरन काल-कथा का क्रम अटूट रखने के लिए वह अब और आगे बढ़ रही है। आज-कल वे प्रथम स्वतन्त्रता-दिवस से लेकर नेहरू युग तक की कहानी एक उपन्यास के रूप में संजो रहे हैं। उपन्यास के आरम्भिक अध्याय सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

उसके सम्बन्ध में अभी केवल इतना ही कह सकता हूं कि भगवती बाबू

अब भले ही 67 वर्ष के बूढ़े हो चुके हों, पर उनकी लेखनी दिनोदिन जवान होती जा रही है। उनकी जीवन दृष्टि क्रमशः पैनी और सूक्ष्म गतिशील बनती जा रही है। उनके विचारों में स्पष्टता, निर्भीकता और उसे प्रकट करने वाले शब्दों का ओज बढ़ रहा है। उनके कहानी कहने का ढंग भले ही एक ढर्रे पर ढल गया हो पर उनका कथ्य अब तक नित नये स्तर पर उठ रहा है। उनकी लेखनी अपने देश-समाज की सजग और सशक्त चितेरी है।

उनके 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास भी अपने समय में बड़ी धूम मचा गए। 'चित्रलेखा' दो बार फिल्माई गई। मैं समझता हूं कि भारत की प्रायः सभी भाषाओं में 'चित्रलेखा' का अनुवाद हुआ है। उसके बंगला और तमिल अनुवाद तो मेरे देखे हुए हैं। बर्मी और अंग्रेज़ी भाषाओं में भी उसके अनुवाद प्रस्तुत हो चुके हैं। परन्तु इन तीनों उपन्यासों से उनका 'सामर्थ्य और सीमा' उपन्यास मुझे आज भी अधिक पसन्द आता है। यथार्थ और रूपक शैलियों का ऐसा सुन्दर समन्वय प्रायः अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। उनका 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत ही नहीं हुआ बल्कि रूसी और भारत की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद भी हुआ है।

भगवती बाबू ने नाटक, फिल्म-सिनेरियो, कहानियां, हास्य-व्यंग्य, रेडियो-रूपक आदि साहित्य की अनेक विधाओं को अपनाकर सफलतापूर्वक कलम चलाई है। उनके कवि रूप ने भी एक समय में बड़ी ख्याति अर्जित की थी। छायावादी युग की लघुत्रयी या वर्मात्रयी के एक 'वर्मा' हमारे भगवती बाबू भी थे, परन्तु अब वे काव्य-क्षेत्र से प्रायः बाहर ही आ गए हैं। कुछ वर्ष पहले उन्होंने एक महाकाव्य लिखने का विचार किया। बाजार से नोट-बुक खरीद लाए, अपनी इष्टदेवी काली की वन्दना रची। वह वन्दना इतनी सुन्दर थी कि हम लोग अत्यन्त उत्सुक होकर उस महाकाव्य के रचे जाने की प्रतीक्षा करने लगे, पर इसी बीच में हमारे 'नेताजी' की काव्य-तरंग अचानक पीछे लौट गई और उपन्यास के लिए मूड बनने लगा। 'सबहि नचावत राम गुसाईं' की रचना कर डाली। इस उपन्यास में भगवती बाबू की व्यंग्य शैली ने अपूर्व निखार पाया है। उक्त उपन्यास के बाद मैंने और भाई ज्ञानचन्द जैन ने उनसे महाकाव्य लिखने के लिए प्रार्थना की, उन्होंने प्रेरित होकर कुछ पंक्तियां और लिख डालीं, परन्तु

भगवती ने भगवतीचरण वर्मा को काव्य से फिर काव्य के निकष की ओर मोड़ लिया। वे अब फिर एक नये उपन्यास की रचना में लग गए हैं।

उनकी साहित्य-साधना में उनकी जीवन-संगिनी सौ० नन्दिता जी का योगदान सराहनीय है। उनका पारिवारिक जीवन सुखद है। बेटी, दामाद, बेटे-बहुएं, भाई-भतीजे सभी उनके प्रेममय व्यक्तित्व से बंधे हुए हैं। वातावरण उनके सृजनशील कलाकार को, नज़रबद्दूर, दिनोदिन जवान बनाता है।

[1970]

ज़िन्दादिल बेढब बनारसी

मास्टर साहब के दर्शन तो पहले भी कई बार कर चुका था पर उनके निकट आने का सौभाग्य तभी मिला जबकि वे एम० एल० सी० बनकर लखनऊ पधारे। उनके जैसे मेहमाननवाज़, उदार, हाज़िरजवाब और सुलझे विचारों वाले व्यक्ति प्राय: कम ही देखने में आते हैं। मास्टर साहब जब भी बनारस से लखनऊ आते तो अपने साथ मिठाइयां अवश्य लाते थे। उनके आने पर 'भ्रमर' सूचना विभाग से फोन करते : "बन्दे, मगदल आए हैं।" यह सूचना पाने के बाद हम लोग शाम के समय विधायक निवास में मास्टर साहब के कमरे पर पहुंचने का समय अपने-आप ही साध लिया करते थे। भगवती बाबू, ज्ञानचन्द जैन, भ्रमर और मैं—प्राय: यही चार जन मिलकर निष्ठापूर्वक मिठाइयों का क्रिया-कर्म कर डालते थे। सर्दी के मौसम में उन्होंने कई बार स्वयं मटरचिउड़ा बनाकर हम लोगों को खिलाया।

बातों के तो वे रत्नाकर थे। हल्की-फुल्की फुलझड़ियों से लेकर गम्भीर साहित्यिक चिन्तन तक उनकी विचारधारा सदा एक-सी प्रवाहित होती थी। लाला भगवानदीन, जयशंकर 'प्रसाद', अपने चाचा रामदास गौड़, प्रेमचन्द आदि पुराने दिग्गजों के संस्मरण प्रसंगवश वे खूब सुनाया करते थे। वे छायावाद के प्रारम्भिक पक्षधरों में रहे थे, और प्रसाद, पन्त, निराला की कविताओं पर—अक्सर बड़े प्रेम मार्मिक मन्तव्य प्रकट किया करते थे। जहां तक मुझे मालूम है उन्होंने आरम्भ में लाला भगवानदीन 'दीन' जी से छन्दशास्त्र और रीतिकालीन कविता का अध्ययन भी किया था। 'छायावाद' या अपने समय की नवीन काव्यधारा के पोषक होते हुए भी वे पुरानी कविता के निन्दक नहीं थे। गद्य साहित्य के अध्ययन में भी उनका वैसा ही चाव था। हालकेन, टॉमस हार्डी, विक्टर ह्यूगो, तोल्सतोय, दोस्तायवस्की और गोर्की आदि प्राचीन लेखकों से लेकर आधुनिक लेखक गिन्सबर्ग और जेम्स कार्वक तक की रचनाएं उन्होंने पढ़ी

थीं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि साहित्य के नये स्वर को सुनने-समझने और उसकी खूबियों की सराहना करने में अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक वे कभी पुराने नहीं पड़े। यह विशेषता बहुत ही कम लोगों में पाई जाती है। आम तौर से चालीस की उम्र के बाद लोग अपने आगे के 'नयों' को गम्भीरता-पूर्वक समझे बिना ही उनके कटु आलोचक बन जाते हैं। मास्टर साहब, आज की 'नई कविता' पर अपने विचार प्रकट करते हुए कटु नहीं होते थे। उन नये कवियों को भी, जिनकी रचनाएं वे हज़म नहीं कर पाते थे, कभी कटु दृष्टि से न देखते; यदि तपते तो उनका तेज व्यंग्य फूटता था अन्यथा उनपर उनकी नज़र ठीक ऐसे मास्टरनुमा ही होती थी जो अपने दंगई विद्यार्थियों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करता है।

मास्टर साहब उर्दू काव्य के भी बड़े मर्मज्ञ थे। उन्होंने गालिब की कविताओं का गहरा अध्ययन किया था। हाज़िरजवाबी में तो उनका कोई सानी ही न था। बहुत पहले की बात है। तब शायद वे एम० एल० सी० नहीं हुए थे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आयोजित 'लिपि सुधार गोष्ठी' में भाग लेकर इलाहाबाद से कार्यवशात् लखनऊ पधारे थे, पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के मेहमान थे। उस दिन मास्टर साहब ने लिपि सुधार गोष्ठी की ऐसी सुन्दर रिपोर्टिंग की कि हंसते-हंसते हमारे पेट में बल पड़ गए। 'ख' अक्षर का रूप परिवर्तित करने के सम्बन्ध में होने वाली बहस पर उनकी फब्ती मुझे अभी तक याद है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन 'ख' अक्षर के 'र' वाले भाग की पूंछ खींचकर 'व' वाली पाई में जोड़ने की ज़ोरदार वकालत कर रहे थे। उनका कहना था कि 'ख' अक्षर 'रव' का धोखा देता है। मास्टर साहब से चुप न रहा गया, बोले, "यदि यह लिखा हो कि 'औरत खड़ी है', तो क्या हमारे मित्र भदन्त जी यह पढ़ेंगे कि औरत रवड़ी है, अथवा यदि मैं यह लिखूं कि भदन्त जी हमारे सखा हैं तो क्या वे उस वाक्य को पढ़ने पर सखा के बजाय हमारे 'सरवा' हो जाएंगे। 'सरवा' बनारसी बोली में साले को कहते हैं। इस पर राजर्षि टण्डन जी की घनी दाढ़ी-मूंछें भी उनकी मुस्कराहट को न छिपा सकी थीं।

कराची हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कविवर पण्डित सोहनलाल द्विवेदी की एक बात पर मास्टर साहब का एक हाज़िरजवाब यहां तक प्रसिद्ध हुआ कि कई जगह मसखरों ने उस लतीफे से सोहनलाल जी का नाम हटाकर मेरा नाम तक

जोड़ दिया। बात यों हुई। बन्धुवर सोहनलाल जी अपनी नई शेरवानी और चूड़ीदार पाजामे की छटा कराची की सड़कों पर छहराकर डेरे पर लौटे। किसी मित्र ने उनकी शेरवानी की दाद दे दी। सोहनलाल भाई जोश में आ गए, कहा कि समझते क्या हो, इसे देखकर लोगों को यह भ्रम हो गया कि जवाहरलाल नेहरू चले आ रहे हैं। मास्टर साहब ऐसे ही मौकों पर तो बेढब हुआ करते थे, चट से बोल पड़े, "हां, कल हमको भी इनके साथ देखकर लोगों ने कहा था कि देखो जवाहरलाल और मोतीलाल चले आ रहे हैं।" पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने एक बार मास्टर साहब के महल्ले 'बड़ी पियरी' को लेकर मज़े में कहा कि "अरे भाई, ये बड़ी पियारी में रहते हैं।" मास्टर साहब चट से बोल पड़े, "हमारी पियारी का नाम तो आपको मालूम न होगा पर आपकी बड़ी पियारी को अब सब लोग जानते हैं कि जिसके बाग में आपको शरण मिली है।" भइया साहब लखनऊ के खुरशीद बाग मुहल्ले में रहते हैं। मास्टर साहब और भइया साहब की आपसी पुरमज़ाक पटावनेठी में खूब मज़ा आया करता था।

सन् 60 में कुछ वेश्याओं से इण्टरव्यू करने के सिलसिले में मैं बनारस जाने की योजना बना चुका था। इलाहाबाद रेडियो में एक हास्यगोष्ठी आयोजित हुई थी, मास्टर साहब वहीं मिल गए। मेरे इलाहाबाद से बनारस जाने की बात सुनकर वे बोले, "हमारे यहां ही ठहरना।" मास्टर साहब के आग्रह को मैं टाल न सका और मैं समझता हूं कि बनारस में उनका उचित निदेशन मुझे न मिला होता तो वे दो-चार अच्छे इण्टरव्यू जो मैं वहां से ला सका शायद मुझे सुलभ न होते। सिद्धेश्वरी देवी के यहां वे मुझे स्वयं ले गए थे। बड़ी मोतीबाई से मेरी मुलाकात कराने का प्रबन्ध भी उन्होंने ही किया था। सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जबकि वेश्यावृत्ति-सम्बन्धी दो-एक टेक्निकल पुस्तकों के नाम उन्होंने मुझे बतलाए। संयोग से वे पुस्तकें मेरी दृष्टि से भी गुज़र चुकी थीं। मैंने उन पुस्तकों को अपने काम के लिए यह विषय उठा लेने के बाद ही पढ़ा था, किन्तु मास्टर साहब ने तो केवल अपने अध्ययन के शौक के कारण ही उनका अध्ययन किया था।

उनके स्वर्गवास से लगभग पन्द्रह-बीस रोज़ पहले ही मैं बनारस गया था। हिन्दी रंगमंच शताब्दी समारोह के सम्बन्ध में कुछ पुराने नाटकों की जानकारी बटोरना ही मेरी उक्त यात्रा का उद्देश्य था इसलिए इस बार उनके यहां ठहरने

के बजाय मैंने 'नागरी प्रचारिणी सभा' के अतिथि-कक्ष में ही ठहरने की योजना बनाई थी। भाई सुधाकर पाण्डेय को इसके लिए पत्र भी लिख दिया था। बनारस पहुंचने पर सभा में अपना डेरा जमाकर मैं सीधे मास्टर साहब के घर गया। यह जानता था कि वहां न ठहरने के कारण मुझे उनकी दो-एक बुजुर्गोचित झिड़कियां सुननी पड़ेंगी और यही हुआ भी। फिर भी तीन-चार दिन, जब तक मैं वहां रहा, मास्टर साहब स्वयं सभा में आकर मेरी खैर-खबर ले जाया करते थे। उन्हें नाटकों का भी भारी शौक था। वे स्वयं शौकिया रंगमंच के अभिनेता रह चुके थे। बनारस में होने वाले पुराने रंगायोजनों के सम्बन्ध में भी मुझे उनसे उपयोगी सामग्री मिली थी। इस भेंट के कुछ ही दिनों बाद तीन अप्रैल, सन् '68 के दिन सभा में हिन्दी रंगमंच शताब्दी मनाने का आयोजन किया गया। इसकी योजना बनाने में भी मास्टर साहब हमारे साथ बैठे थे। चलते समय मैंने उनके पैर छुए, कहा कि अब पहली अप्रैल को भेंट होगी। वे बोले, "हम लोग अप्रैल-फूल की शताब्दी नहीं मना रहे, एक-दो दिन पहले आ जाना। इसी बहाने से दो-चार दिन गपशप करने का अवसर मिल जाएगा। और सीधे घर ही आना। सभा में उन दिनों भब्भड़ रहेगा, तुम्हें असुविधा होगी।" उस समय कल्पना में भी नहीं सोच पाया था कि मैं उनके अन्तिम दर्शन कर रहा हूं।

यों तो मास्टर साहब अपनी पूर्ण आयु भोगकर ही गए पर उनकी मृत्यु का आघात हम सबको ऐसा ही लगा मानो वे समय से पहले ही हमारा साथ छोड़कर चले गए हों, ज़िंदादिली, निर्मल प्रेम-व्यवहार और 'नये' को ग्रहण करने की उदारता-भरी शक्ति के कारण ही किसी को यह महसूस नहीं होता था कि मास्टर साहब अब पुराने हो गए हैं। ठलुओं के बीच में वे परम ठलुए और विद्वानों के बीच में वे अन्त तक गोष्ठी की शोभा बने रहे। मास्टर साहब का स्थान हास्य रस के लेखकों और कवियों में सदा अनन्य बना रहेगा।

[1968]

किसान कवि 'पढ़ीस'

एक दिन—कोई पंद्रह साल पहले—एक बड़ी-बड़ी मूछोंवाला आदमी गाढ़े का कुर्ता-बंडी और घुटनों तक ऊंची धोती पहने हमारे यहां आया। मेरे एक पुराने दोस्त उन्हें अपने साथ लाए थे। उन्होंने बतलाया कि ये अवधी भाषा के कवि 'पढ़ीस' हैं। पढ़ीस ने अपनी छोटी-छोटी चमकदार आंखों में स्नेह भरकर मेरी ओर इस तरह देखा मानो खेतों में खड़ी पकी फसल लहलहाकर सारे संसार को देख रही हो। उन्हें देखकर मैं शहर वाला अपनी जात भूल गया। उनकी छल-कपट से दूर, देवताओं जैसी सरल मुस्कान ने मेरे मन का ओछापन हर लिया। मुझे अपना बना लिया। और उसके बाद तो 'पढ़ीस' हमारी मित्र-मंडली के सिरमौर बन गए। जैसे अक्षय वट की छाया सबको सुख और विश्राम देती है, उसी प्रकार पढ़ीस की सरल, भावभगी बातें हमारी मानसिक थकान को हरती थीं। जैसे सूरज-चंद्रमा के आने-जाने का क्रम है और जैसे धरती उनकी बाट जोहती है, वैसे ही हमारे घर की बैठक नित्यप्रति 'पढ़ीस' के आने की प्रतीक्षा करती थी। तन का दरिद्री मगर मन का कुबेर किसान कवि हमारे बीच में बैठकर हमें सुनाता था—

> **दुनिया के अन्नु देवइया हम,**
> **सुखु संपति के भरवइया हम**
> **भूंखे नंगे अधमरे परे,**
> **रकतन के आंसू रोयि रहे !**
> **हमका छाखति अंटा चढ़िगे**
> **उयि का जानिनि हम को आहिन।**

पढ़ीस की यह ललकार फूंस में दबी चिनगारी जैसी ही प्रचंड थी। पढ़ीस की कविता सात लाख गांवों के गूंगे किसानों की बोली थी। धरती की सहन-

शीतलता और स्वाभिमान के साथ धरती का लाल बोलता था—

हम कुछ आहिन, उयि जानयि तउ,
उहु नातु पुरातनु मानयि तउ ।
उयि रहिहयि तउ हमहू रहिबयि
हमते उनहुन की लाज रही—
घरु जरि कयि बंटाधारु भवा—
तब का जानिनि हम को आहिन ।।

परन्तु गर्वीले ज़मींदार की आंखों पर ठकुरैती की पट्टी चढ़ी ही रही । उसने किसान के स्वाभिमान को, उसकी सच्ची और न्याय-भरी आवाज़ को कभी न तो जानने की कोशिश की और न मानने की । लेकिन काल अपना न्यायदंड चलाता है, कवि की भविष्यवाणी खरी सिद्ध होती है । घर जलकर बंटाधार होने लगता है और घमंडी ज़मींदार अब सहज स्वाभिमानी किसान की शक्ति को पहचानने पर मजबूर हो जाता है ।

'चकल्लस' का कवि पढ़ीस खरा किसान था । किसान की दृष्टि बड़ी पैनी होती है । वह धरती की छाती चीरकर रत्न पैदा करना जानता है, इसलिए उसे धरती की परख भी खूब होती है । जो विलायत की हवा चली, तो बम्बई, कलकत्ता से अंग्रेज़ी फैशन भारत के गांव-गांव में फैलने लगा । भोले-भाले किसान नें सोचा कि आजकल पढ़े-लिखों का ज़माना है, मेरे बच्चे भी एम० ए०, बी० ए० कर लेंगे तो आगे चलकर, कोई बड़े हाकिम-हुक्काम बन जाएंगे । अनेकों देहातवालों ने अपना घर-ज़ेवर अल्ला-बल्ला सब बेच-खोंचकर लड़कों को खूब पढ़ाया-लिखाया । लड़के पढ़-लिखकर ऐसे सपूत निकले कि देहाती धोती-मिर्जई पहने हुए अपने बाप को बाप कहकर मान देने में भी शरम आने लगी । लड़के एम० ए०, बी० ए० भले ही हो गए हों पर गुन की एक बात भी न सीखी । हां, अंग्रेज़ी पोशाक पहनना, सिगरेट, चाय, सोडा उड़ाना, क्लब, सिनेमा में प्रेम-पंवाड़ा पढ़ना ही वे सीख गए । अपने घर, गांव और माता-पिता को वही नीची दृष्टि से देखने लगे । इस नैतिक बुराई की ओर किसान कवि पढ़ीस का ध्यान गया । 'चकल्लस' संग्रह में कविता 'लरिकउनू एम० ए० पास किहिन'—उनकी बड़ी ही लोकप्रिय रचनाओं में से हैं ।

अब सट्टी मिली असट्टिय मां लरिकउनू एम० ए० पास किहिन।
पुरखन का पानी खुबइ मिला लरिकउनू एम० ए० पास किहिन।

ऐसे कुल-उजागर एम० ए० पास लरिकउनू का वर्णन करते हुए पढ़ीस आगे कहते हैं—

महतारी बिलखयि ह्याखयि का,
बिल्लायि म्यहरिया ब्वालै का,
उयि परे कलपु-घर पाले मां,
लरिकउनू एम० ए० पास किहिनि।

सुख-विलास और मौज-मज़े में पड़कर लड़कों ने अपनी भी ज़िन्दगी बरबाद की, और अपने मां, बाप, घरवालों को तो दर-दर का मुहताज बना दिया। उन्होंने एम० ए० की डिगरी भले ही पा ली हो, ऐशन-फैशन की ऊपरी टीमटाम सब भले ही दुरुस्त कर ली हो—पर रहे कच्चे के कच्चे। इतना पढ़-लिखकर उनमें योग्यता न आई, अपने ऊपर विश्वास न बढ़ा। ऐसी विद्या किस काम की जिसे पाकर भी आदमी का स्वाभिमान न जागे, उसे अपनी बुद्धि पर भरोसा न हो। पढ़ीस लिखते हैं—

अरजी लिक्खिनि अंग्रेजी मां,
घातयि पूंछयि चपरासिन ते,
धिरकालु 'पढ़ीस' पढ़ीसी का
लरिकउनू एम० ए० पाप किहिन।

गांवों में अंग्रेज़ी विद्या का प्रचार और विलायती फैशन की हवा फैल जाने से बेमेल विवाहों की जो छीछालेदर हुई उसे लेकर कवि कहता है—

तुम ल्यहंगा लखतयि लाल परउ, लम्बे लटकन की कउनि कही।
हम सुटु-बुटु ते जरि जायी, यह छीछाल्यादरि ह्याखउ तउ !
होटल की नचुई देखि-देखि, तुमका नचनची सवार होथि।
हम मनई देखि भरकि भाजी, यह छीछाल्यादरि ह्याखउ तउ।
तुम देसी देखे खारु खाउ, हम परदेसी पर उकिलाई
यहु कस दुलहा ? यह कसि दुलिहिनि ? सबु छीछाल्यादरि ह्याखउ तउ॥

धरती के मोह ने, बड़ों के स्वार्थ ने निर्बोध किसान में भी स्वार्थ की ज्वाला भड़का दी है। आज बात और मान-मर्यादा का सवाल अब ऊपरी और झूठ हो

गया है। ज़रा-सी कोई बात हुई नहीं कि किसान भाई मारपीट और फौजदारी पर उतर आते हैं। फिर तो बात पुलिस, थाना और कानून-कचहरी तक बढ़ जाती है। घर का तार-तार बेचकर किसान चाहे नंगा-भिखमंगा भले ही हो जाए, परन्तु कानून और अदालतबाज़ी की 'चंडूली चुल्ल' मिटाने में वह अपना होश-हवास, दीन-धरम, लोक-मरजाद बाद भूल जाता है। पढ़ीस ने अपनी 'मुरहू चले कचेहरी का' नाम की कविता में ऐसे कानूनी मुरहों का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है—

कानून का पुरिया चौखिचाटि कयि, मुरहू चले कचेहरी का।
कंबख्ती की क, ख, ग, घ पढ़ि, आए आपु कचहरी का।

अपने किसान भाइयों की इस अदालती महामारी से किसान कवि का रोम-रोम दुखी होता है। कविता के अन्त में पढ़ीस काली माई से प्रार्थना करते हैं कि यह दुर्गुण समाज से दूर हो जाए तो कैसा अच्छा हो। सामाजिक बुराइयों पर पढ़ीस के इस अद्वितीय कविता-संग्रह में एक से एक सुन्दर रचनाएं हैं। 'सोनामाली', 'तिरफला', 'सिट्टाचारु', 'भलेमानस', 'रङ्गीसी ठाठु', 'हम औ तुम' 'हम कनउजिया बांभन आहिन' आदि कविताओं में किसान कवि ने निश्छल व्यंग्यबाण बरसाए हैं। 'किहानी' शीर्षक कविता में कवि ने अंग्रेज़ों के सुख-वैभव को सामने रखकर दीन-हीन भारतीय किसान की विपदाओं का जो व्यंग्य और परिहासपूर्ण, साथ ही करुण चित्र खींचा है, वह हिंदी साहित्य में अनुपम, अद्वितीय है। नदी की बाढ़ किसान के खेत बहा ले जाती है। खेत किसान का प्राण है। उसके ऊपर उसकी सारी आशाएं हैं। खेत उसके घरवालों की रक्षा का एकमात्र आधार है। और नियति जब किसान से वह भी छीन लेती है तो बेचारा निरुपाय होकर राम को याद करता है। भारतीय किसान और राम का अटूट नाता है। और उसी नेह-नाते की डोर में बंधकर भक्त अपने भगवान से, अपनी मड़य्या के रखवारे राम से, प्रार्थना करता है—

फूलि फरी खरबूजा बारी संइति लिहिस सइलाबु;
का मुंहु लयिकयि घर का जाबयि, कहिते का बतलाबु;
मड़य्या के रखवार हमार राम !

किसान कवि पढ़ीस उच्चकोटि के कवि थे। किसी भी भाषा का साहित्य ऐसे कवि को पाकर धन्य हो जाता है। प्रकृति का, गांव का, गांव के जीवन का,

मनुष्य-स्वभाव का जितना सुन्दर, सजीव और मार्मिक वर्णन पढ़ीस ने अपनी अवधी भाषा की कविताओं में किया है, उतना काव्य के क्षेत्र में कम ही लोगों ने किया है। 'घसियारिनी', 'सुनुहुली स्यामा', 'मनई', 'लरिका', 'बिटिया', 'म्यहारू' आदि एक से एक बढ़कर रचनाएं हैं। घसियारिनि कविता में घास निराती हुई नवयुवती का एक चित्र देखिए—

कस धूरि घुरेटे बार स्वनहुले चंद बदन पर—
उड़ि-उड़ि पुरवाई झ्वांका बादरु अस मडराथि रहे।
का चंदा मामा घेंरि संंवलवा अयिसी वयिसी !
छुवा-छुअउवरि खेलि रहे ! अठिलायि रहे व्यल्हरायि रहे !
घसियारिनि घास निरायि रही !

पढ़ीस जनता के कवि थे, पढ़ीस किसानों के अपने कवि थे। पढ़ीस अवधी भाषा—हिन्दी साहित्य के अभिमान थे। और जो लोग उन्हें निकट से जानने का सौभाग्य प्राप्त कर सके, वे यह भी जानते हैं कि किसान कवि पढ़ीस कवि से भी बढ़कर महान् मानव थे। उनके असामयिक स्वर्गवास पर कविवर नरेन्द्र शर्मा ने लिखा था—

वह हिन्दी का लेखक था,
खून तपा कर लिखता था !
ऐसा अपना साथी जो चला गया,
एक हमारा साथी था जो नहीं रहा !

(1949)

तीस बरस का साथी : रामविलास शर्मा

"प्रिय भैयो,

तुम्हारे और केदार के सब पत्र पढ़ गया हूं। किसी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मित्र से पूछना कि इंगलैण्ड के दो (तीन तो बहुत हैं) साहित्यकारों का नाम ले जिनकी दोस्ती—सचमुच की दोस्ती, महज़ खत-किताबत वाली नहीं, और साहित्यकारों की दोस्ती, साहित्यकार और उसके भक्तों की नहीं—उसके साहित्यिक जीवन के आरम्भ से लेकर तीस साल तक एक बार भी जूतमपैजार और मुंह-फुलौवल के बिना बनी ही न रही हो, वरन् गढ़ियाई हो। यहां भी अंग्रेज़ी फोकस हुई..."

डाक्टर के पुराने पत्रों को संजोकर बैठा हूं। सन् '40 से लेकर, 64 तक के पत्र लिफाफे, पोस्टकार्ड और अन्तर्देशीय पत्र के कागज़ों पर लिखी गई चिट्ठियों की नुमायश लगी है, भांति-भांति के सिरनामे छपे कागज़—बाल साहित्य संघ, लखनऊ; कैनिंग कालेज एथेलेटिक एसोसिएशन, लखनऊ; हिन्दी साहित्य सभा लखनऊ, रामविलास शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, डिपार्टमेण्ट औफ इंगलिश, लखनऊ यूनिवर्सिटी (अंग्रेज़ी में छपा); 'उच्छृंखल' मन्थली और मासिक 'समालोचक' आगरा के कागज़ों पर उनके विभिन्न निवास-स्थानों के पते अंकित हैं। कैलाशचन्द्र दे लेन, मकबूलगंज और सुन्दर बाग, लखनऊ के पते हैं बाकी आगरे के ठिकाने हैं—बैंक हाउस, सिविल लाइन्स; शिवसदन; स्वदेशी बीमानगर; महताब भवन, वज़ीरपुरा, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा; आर० वी० शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी० (लक), हेड आफ दि डिपार्टमेण्ट आफ इंगलिश, बी० आर० कालेज, आगरा; गोकुलपुरा मदीया कटरा; अशोक नगर और 30 न्यू राजामण्डी। यहां आकर पता स्थायी होता है। यह रामविलास की अपनी गाढ़ी कमाई की बनवाई हुई पुख्ता आलीशान बागीचेदार कोठी है जिसके ऊपरी छज्जे की बेल को देखकर मैंने उस मकान का नाम 'दुपल्ली टोपी' रख दिया है, हालांकि रामविलास ने उसे स्वीकार नहीं किया।

इन ढेर सारे तिथियों और वर्षों के हुजूम से गुज़रते हुए मेरा मन स्मृतियों की नशीली तरंगों से भर उठा। इन पत्रों के बहाने यादें कहीं-कहीं देर तक टिक जाती हैं और जब उनसे उबरकर अपने वर्तमान में आता हूं तो लगता है कि विकास की अटूट परम्परा से जुड़े रहने के बावजूद मैं किसी दूसरे जन्म में आ गया होऊं। यह अधेड़ उम्र उसकी ज़िम्मेदारियां, सुख-दुख थोड़ी देर के लिए सब भूल गया। उन्नीस-बीस बरस की लड़काई उमर में अपने दिन देखने लगा। लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्र श्याम वर्ण के छरहरे, पतली रेख-सी मूंछों और कसरती बदनवाले नवयुवक रामविलास शर्मा मेरी ध्यानदृष्टि के सामने इस समय एकदम सजीव, मूर्तिमन्त होकर खड़े हैं। जहां तक याद पड़ता है वे सन्' 34 में झांसी से इण्टरमीडिएट पास करके यहां पढ़ने आए थे। मेरी पहली भेंट सन् ' 35 के मार्च महीने में होली के एक या दो रोज़ बाद हुई थी। लखनऊ आने के शायद कुछ ही अरसे के बाद निराला जी से उनकी भेंट हो गई थी। महाकवि रामविलास से बहुत प्रभावित हो गए थे। मुझसे मिलने पर अक्सर रामविलास की प्रशंसा किया करते थे, "बड़ा तेज़ है, ये डॉक्टर बनेगा एक दिन अपने गुरु सिद्धान्त को भी अंग्रेज़ी में पछाड़ेगा।" मेरे मन पर अपरिचित रामविलास शर्मा का रोब छा गया था। एक बार श्रीराम रोड स्थित सरस्वती पुस्तक भण्डार की दुकान पर बैठा हुआ था। सामने सड़क पर एक साइकिलधारी नवयुवक गुज़र गया। दुकान के मालिक श्री रामविलास पाण्डेय ने मुझे बतलाया कि ये रामविलास शर्मा जा रहे हैं पर वे मेरे देखते-देखते ही आंखों से ओझल हो गए।

सन् '34-35 के वर्ष मेरे लिए आसान न थे। उन दिनों यानी सन् ' 34 में मैं कुछ उखड़ा-उखड़ा अशान्त मानस जीवन बिता रहा था; नई उम्र की रंगीन कमज़ोरियां अपनी राहों पर चोरी-छिपे बढ़ रही थीं। इस वर्ष मैं साहित्यिक मित्र-मण्डली में अधिक उठ-बैठ न सका। उस समय तक मेरी अपनी मण्डली ही क्या थी—बड़े बुज़ुर्गों के यहां जाना, उनकी बातें सुनना—कविरत्न रूपनारायण जी पाण्डेय या कभी-कभी स्वनामधन्य मित्रबन्धुओं के यहां। अक्सर दुलारेलाल जी भार्गव के 'गंगा पुस्तकमाला' कार्यालय में और अधिकतर शामें निराला जी के साथ बीतती थीं। अपनी मण्डली का आभास मुझे केवल निराला जी के यहां होता था, क्योंकि समवयस्क प्रतिभाशाली नवयुयक उनके यहां बराबर आते रहते

थे। मैं उन दिनों उन गोष्ठियों में बहुत कम शामिल हो सका और जब कभी हुआ भी तो वानक सदा ऐसे बने कि रामविलास मुझे वहां न मिल सके। एकाध बार यह भी सुना कि अभी-अभी बाहर गए हैं। रामविलास को देखने की उत्कण्ठा मेरे मन में सवार हो गई। फरवरी '35 में मेरे पिता का स्वर्गवास हुआ। निराला जी उन दिनों जल्दी-जल्दी मेरे घर का चक्कर लगा जाते थे। एक दिन होली के बाद मैं सवेरे ही उनके घर चला गया। तब वे नारियल वाली गली में रहते थे और शायद 'तुलसीदास' लिख रहे थे या लिखने की तैयारी में थे। रामविलास उस दिन निराला जी के घर पर ही मिले। निराला जी ने बड़े तपाक से परिचय कराया। रामविलास रिज़र्व टाइप के आदमी लगे। जोश में आने पर निराला जी में दिखावे की भावना भी खूब आती थी। रामविलास के अंग्रेज़ी साहित्य के ज्ञान से वे चित्त हो चुके थे और अपने काव्य पर उनकी विद्वत्तापूर्ण प्रशंसा-युक्त आलोचना से गद्गद। मेरे सामने उन्होंने रामविलास से पंजा लड़ाया और शायद शेक्सपियर या किसी अन्य अंग्रेज़ी कवि को लेकर उनसे कुछ चोंचें भी लड़ाईं। हम लोग घर से उठकर हीवेट रोड, पैरागॉन रेस्ट्रां में चाय पीने के लिए आए। वहां देर तक बैठे निराला जी से खुलकर हंसते-बोलते हुए हम दोनों बीच-बीच में बाअदब कुछ आपस में भी बोल-बतिया लिया करते थे। मेरे मिज़ाज में तकल्लुफ़ और उनके मिज़ाज में संकोच, लिहाज़ा दोस्ती की गाड़ी रुक-रुककर आगे बढ़ती रही। निराला जी के साथ रामविलास अब कभी-कभी मेरे घर पर भी आने लगे। मेरे बचपन के साथियों में ज्ञानचन्द जैन, राजकिशोर श्रीवास्तव और स्व० गोविन्दबिहारी खरे इण्टेलेक्चुअल और साहित्यिक अभि-रुचि के लोग थे। कभी-कभी मुझमें, रामविलास और गोविन्द में शब्दों को लेकर मज़ेदार खोद-विनोद होने लगती थी। मेरे और रामविलास के बीच यह कड़ी शुरू से ही बड़ी मज़बूत रही है। आगे चलकर यही शब्द-विलास रामविलास को भाषा विज्ञानी बना गया।

हमारी घनिष्ठता की दूसरी कड़ी में अंग्रेज़ी और योरूप की दूसरी भाषाओं के साहित्यिकों के व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा भी बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। सच पूछा जाए तो मेरे और रामविलास के बीच घनिष्ठता की यह सबसे मज़बूत कड़ी थी। रामविलास और स्व० गोविन्दविहारी खरे—अपने इन दो मित्रों की कृपा से मेरी पश्चिमी साहित्य-सम्बन्धी जानकारी बहुत बढ़ी। आपसी बहसों में खूब

लड़ते-झगड़ते हुए इन पिछले तीस वर्षों में हमारी दोस्ती गढ़ियाई है। यह सचमुच मज़े की बात है कि बहस-मुबाहसों में बड़ी तेज गर्मागर्मी लाकर भी हम एक दिन के लिए भी आपस में कटु नहीं हुए।

सन् 1938 में मैंने साप्ताहिक पत्र 'चकल्लस' का आरम्भ किया। उन दिनों बनारस से हास्य रस का एक पाक्षिक पत्र 'खुदा की राह पर' निकल रहा था। मैंने बनारस में ही अपने मित्र स्व० पुरुषोत्तम दवे 'ऋषि' के सुझाव पर पाक्षिक 'अल्लाह दे' नामक पत्र निकालने की योजना बनाई। लखनऊ आने पर इस नाम से पत्र के तीन अंक निकाले पर यह नाम मुझे पसन्द न था। मित्रों को भी इस नाम से सख्त चिढ़ थी और उन्होंने मेरा मज़ाक भी उड़ाया। उन्हीं दिनों अपना 'संघर्ष' पत्र समाजवादी पार्टी को सौंपकर उसकी प्रकाशन योजना के साथ ही साथ श्री नरोत्तम नागर मेरठ से लखनऊ आ बसे थे। यहां 'संघर्ष' वालों से उनका कुछ संघर्ष हो गया और वे उस पत्र से अलग हो गए। वे बेकार थे। हम सबने योजना बनाई कि पत्र तो हास्य और व्यंग्य का ही निकाला जाए लेकिन उसे एक तो पाक्षिक के बजाय साप्ताहिक बनाया जाए और दूसरे 'अल्लाह दे' जैसे भोंडे नाम के बजाय कोई अच्छा मज़ेदार नाम दिया जाए।

मेरी एक पुरानी डायरी के अनुसार 2 जनवरी, सन् 1938 को सर्वश्री निराला, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा और नरोत्तम प्रसाद नागर मेरे यहां पधारे थे। 'बड़कवन और मुंहलगे' के तौर पर शायद दो-एक लोग और भी होंगे क्योंकि मैंने इन नामों के साथ-साथ आदि शब्द भी लिख छोड़ा है। मैंने अपनी एक नई कहानी सुनाई, पत्र निकालने के प्रस्ताव पर भी उसी दिन बातें हुईं। डायरी के अनुसार उसी दिन बन्धुवर नरोत्तम जी से पत्र के सम्पादन के सम्बन्ध में तय किया। ऐग्रीमेन्ट का मसौदा भी उसी दिन बना। पत्र का नाम उस दिन निश्चित न हो सका। 6 जनवरी को स्व० पं० रूपनारायण जी पाण्डेय ने 'मसखरा' नाम सुझाया सबको पसन्द भी आया। रामविलास को यों तो ये नाम पसन्द था पर 'मसखरा' से 'चकल्लस' नाम उन्हें अपने मन ही मन अधिक जंच रहा था। इसका एक कारण था—स्व० बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' अवधी भाषा के बहुत ही अच्छे कवि थे। निराला गोष्ठी के एक सम्मानित सदस्य थे, आयु में वे हम लोगों से काफी बड़े थे पर उनका लेखन-काल हम लोगों के साथ ही आरम्भ हुआ था। वे मेरे और रामविलास शर्मा के अनन्य मित्रों में से थे।

बैसवारी अवधी में उनकी कविताओं का एक संग्रह 'चकल्लस' नाम से उन दिनों ताज़ा-ताज़ा प्रकाशित हुआ था।

रामविलास ने उसी नाम को आगे बढ़ाया। "भई, मसखरा नाम है तो अच्छा मगर 'चकल्लस' में जो बात है वह उसमें नहीं आती।" 7 जनवरी को गोविन्द ने बतलाया कि न्यूमेरालॉजी के हिसाब से मसखरा नाम ठीक नहीं। 'चकल्लस' लाभदायक है, यही रक्खा जाए। वसन्त पंचमी के दिन उसे प्रकाशित कर देने की योजना बनी। बड़े जोश के साथ हम लोग काम में लगे। स्व० गोविन्दविहारी खरे, रामविलास शर्मा और स्व० बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' ने मुझे और नरोत्तम नागर को जैसा हार्दिक सहयोग दिया वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। गोविन्द ने बी० काम० पास किया था और उन दिनों बेकाम भी थे। उन्होंने दफ्तर और हिसाब-किताब सम्भाला। नरोत्तम ने इलाहाबाद जाकर कलाकार बागची से पत्र के बड़े ही सुन्दर डिज़ाइन्स बनवाए। मैंने प्रेस, कागज़ आदि की दौड़-धूप में मन लगाया और हमारा कोतवाल यानी रामविलास मैटर संजोने में लग गया। यों तो पत्र के सम्पादक मैं और नरोत्तम थे, पर इलाहाबाद जाते समय मैटर को तरतीब देने का भार नरोत्तम रामविलास को ही दे गए। वो जोश के दिन अपनी याद से इस समय भी मेरे मन को वही पुरानी फुरफुरी दे रहे हैं। यह कुछ नौजवानों का जोशीला सामूहिक प्रयत्न था। पैसा भले ही मेरा लगा हो पर इनमें से एक भी ऐसा न था जो पत्र को अपनी मिल्कियत न समझता हो। पैसे की अहंता महत्त्वपूर्ण होकर भी उद्देश्य की निष्ठा के आगे बहुत छोटी हो जाती है। पैसा महज़ एक मशीन है जिससे हम तरह-तरह के उपयोगी कामों का ताना-बाना बुनते हैं। 'चकल्लस' प्रकाशन के दौर में अपने इन सब बन्धुओं की कृपा से मेरी सामाजिक दृष्टि निखरी। मेरे वातावरण में व्याप्त महाजनी और सामन्ती सभ्यता के कुसंस्कार 'चकल्लस' प्रकाशन के दौर में खूब खूबी से दूर हुए और उसके लिए मैं अपने इन बन्धुओं का ऋणभार कभी अपनी चेतना से उतार नहीं सकता। सच पूछा जाए तो विलास 'चकल्लस' प्रकाशन के डेढ़ वर्षों में ही मेरे अत्यधिक निकट आए। इस शख्स में अपनी कुछ ऐसी खूबियां हैं कि मन से उतारे नहीं उतरतीं। निराला जी के समान नशेबाज़ गुरु का साथ और भाई फिर भी अछूते बच गए। हम लोग, जैसा कि आमतौर पर चार नौजवानों के मिल बैठने पर होता है, इश्क और हुस्न के रस-बहाव में अपने

आप ही बहने-बहलने लगते, रामविलास शुरू से ही प्रेमचर्चा शून्य रहे। वे जहां डट गए वहां अंगद के पांव की तरह थिर हो गए फिर सारी दुनिया आ जाए मगर उनको अपनी जगह से हटा नहीं सकती। ऐसे व्यक्ति टूट भले ही जाएं पर झुक नहीं सकते। मैं रामविलास के इसी व्यक्तित्व से बंधा हूं। रामविलास के इस बैसवारी अहम् को आम तौर पर भ्रमित दृष्टियों से देखा गया। लोगों में यह भ्रम फैल गया है कि रामविलास खरे और ईमानदार तो हैं पर अकड़ू बहुत हैं, किसीसे मिलकर नहीं चलना चाहते। यह बात गलत है। रामविलास के समान विनम्र और विनयशील व्यक्ति मैंने कम देखे हैं। लेकिन उनकी विनम्रता और विनय उनकी मान्यताओं के आड़े कभी नहीं आती। हम शहरी लोग तकल्लुफ में अपने दोस्तों से भी एक जगह मन की शिष्टाचार-भरी चोरी रखते हैं या उनके दबाव में आकर अपनी मान्यताओं को मन में ही दबा जाते हैं; रामविलास में यह शहरी दुर्गुण नहीं हैं। वह खास तौर पर उन बुज़ुर्गों, मित्रों और छोटों की गलत बात पर राज़ी ही नहीं हो सकते जिनके प्रति उनकी श्रद्धा, स्नेह और ममत्व है। हम शहरी लोग ऐसे मौकों पर बुरा मान जाते हैं, खास तौर पर उनका विरोध हमें और भी बुरा लगता है जो हमारे निकट होते हैं। रामविलास सौम्य, गम्भीर, प्रतिभावान और विचारक होने के कारण शहरी समाज के ऊंचे से ऊंचे लोगों की संगत में बैठने-उठने के अवसर सहज ही पाते रहे। लोग उनके प्रति आकृष्ट भी होते रहे और उन्हें अपना स्नेह भी दिया। लेकिन ऐसों में ही अनेक व्यक्तियों से उनका यह भ्रम नाता आरम्भ हुआ। इस भ्रम के लिए रामविलास अधिकतर दोषी नहीं माने जा सकते। हां, उनमें एक प्रबल दोष है, जब कोई उनसे बेज़ा तौर पर नाराज़ होता है तो वे ठेठ देहाती की तरह उसको 'टि-ली-ली-ली-भों' वाली मुद्रा में चिढ़ाने लगते हैं। जब वो चिढ़ता है तो ये और तेज़ होते हैं। रामविलास की तीखे व्यंग्य भरी फिस-फिसवाली हंसी ने बहुत-से कलेजों पर तलवार से वार किया। रामविलास का क्रोध भीतरी है पर घुन्ना नहीं। उनके क्रोध का बहिः-प्रदर्शन आम तौर पर उनकी ज़हरीली हंसी और व्यंग्य वचनों के रूप में ही होता है। निराला जी क्रोध की तेज़ बाढ़ में विवश होकर बहते थे, अपने ढंग से मेरी भी ऐसी ही हालत होती है पर रामविलास क्रोध के बहाव में बहते नहीं बल्कि तैरते हैं। बहने वाला उनके इसी संयम से आतंकित होता है। रामविलास जब चिढ़ते हैं तब उनका तर्कजनित

व्यंग्य और भी सधता है।

मुझे ठीक याद है, वसन्त पंचमी के दिन 'चकल्लस' का पहला अंक निकला था। 'यह कइसि चकल्लस आई' शीर्षक से पहली कविता पढ़ीस जी की थी। बाकी सारा मैटर नरोत्तम, रामविलास और मैंने मिलकर लिखा। प्रायः हर अंक का अधिकांश मैटर हम तीनों ही पूरा करते थे। कई उपनाम रख लिए थे। और खूब मज़े ले-लेकर लिखते थे। वे भी क्या मौज के दिन थे। रामविलास उन दिनों शायद एम० ए० के अंतिम वर्ष में थे। युनिवर्सिटी से लौटकर शाम को नित्य प्रति मेरे यहां आते। नाश्ता, चाय, हुक्का, पान चलने लगता। गप्पें लड़तीं, दूसरे अंक के मैटर की योजनाएं बनतीं और कभी-कभी तो हम लोग एक ही तखत पर साथ बैठकर लिखा भी करते थे।

हिन्दी के प्रति रामविलास की निष्ठा और भक्ति शुरू से ही अटल रही है। कोई हिन्दी के खिलाफ कुछ कह भर जाए फिर भला वह विलास के व्यंग्य बाणों से बचकर जा ही कहां सकता है। स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ तक 'चकल्लस' के 'कुकड़ूं-कूं' स्तम्भ में रामविलास से बच नहीं पाए। हिन्दी साहित्य की उन्नति के सम्बन्ध में रामविलास की कल्पनाएं और जोश अपार था। रूस की पंचवर्षीय योजना पद्धति से स्फूर्ति लेकर विलास उन दिनों में भी अच्छा हिन्दी साहित्य लिखने की योजना बनाया करते थे : "तुम ये लिखोगे, कक्कू (पढ़ीस) वो लिखेंगे, मैं इतने लेख तैयार करूंगा, नरोत्तम ये करेंगे। उच्चन (स्व० बुद्धिभद्र दीक्षित) बच्चों का साहित्य लिखेगा। अमृत, तुम एक प्रेस भी ले लो, 'चकल्लस' के साथ ही साथ अपना प्रकाशन भी होना चाहिए।" बस इसी तरह की कामकाजी योजनाएं बना करतीं। मैंने प्रेस के लिए आर्डर भी दे दिया था। हर रविवार को गोष्ठी होती—अक्सर मेरे यहां, कभी-कभी पढ़ीस और रामविलास के यहां भी। उसके लिए खास तौर पर हमें लिखना ही पड़ता था नहीं तो विलास हमारी जान खा जाते थे। मैंने उनका एक नाम कोतवाल भी रख छोड़ा था। विलास को हम लोग डॉक्टर के नाम से भी पुकारा करते थे। बी० ए० में पढ़ते समय ही निराला जी ने रामविलास को यह उपाधि दे दी थी। वह उपाधि उपाधि न होकर रामविलास के उपनाम जैसी ही बन गई थी। रामविलास के छोटे भाइयों के उपनाम जैसे चौबे, मुंशी, अवस्थी आदि थे वैसे ही विलास का एक नाम डॉक्टर भी हो गया। हालांकि जब रामविलास डॉक्टर हुए तो मैं

ऐसा मगन हुआ मानो मैं ही डॉक्टर हो गया था। विलास ने ये डॉक्टरी सन् '40 में अर्जित की थी। मैं तब तक फिल्मी लेखक बनकर बम्बई में बस चुका था। बम्बई में एक शाम लखनऊ रेडियो का प्रोग्राम सुनते हुए मैंने एकाएक एनाउन्सर द्वारा डॉ० रामविलास शर्मा नाम की घोषणा सुनी। उसके बाद आवाज़ आई तो अपने डॉक्टर की। मुझे बड़ा क्रोध आया कि विलास ने अपनी डॉक्टरी पाने की खबर मुझे क्यों नहीं दी। उसी क्रोध में मैंने 9-7-40 को विलास को पत्र लिखा। उसका उत्तर देते हुए 13-7 को वे लिखते हैं, "और रहे तुम वही अमृत; कोई दिल्ली में भाड़ झोंकता है तो कोई बम्बई में। यह तो निश्चित ही था कि डॉक्टरेट मिलते ही मैं तुम्हें पत्र लिखता। और बिना पत्र के जब मेरे नाम के साथ तुमने डॉक्टर देखा तभी तुम्हें अपने कान खड़े करने चाहिए थे ! यह डॉक्टरेट मुझे रेडियो वालों से मिली है।"

इसी जुलाई मास में बाल साहित्य संघ, 112 मकबूलगंज के लेटरहेड पर डॉक्टर का एक पत्र मिला—

"प्रिय अमृत !

हमारा Thesis approved हो गया है। इस convocation में डिग्री मिल जाएगी। तुम्हारी बात सच है। अब लखनऊ आओ तो मिठाई खाई जाए।"

रामविलास की डॉक्टरी का उत्सव मैंने बम्बई में अपने ढंग से खूब मनाया। बम्बई में उस समय दो ही ऐसे साथी थे जिनको अपनी इस खुशी में शरीक कर सकता था। एक श्री किशोर साहू और दूसरे श्री महेश कौल। वो शाम कभी भूलेगी नहीं। मैं स्टूडियो से लौटते हुए दादर बार से उत्सव की विशेष वस्तु लेकर लौटा। महेश जी मेरे साथ ही आए थे। इन्तज़ार साहू साहब का था। चूंकि उन दिनों मैं और महेश दोनों ही बम्बई में अनाथ थे इसलिए अक्सर किशोर के घर पर ही हमारा भोजन होता था। किशोर के माता-पिता दोनों ही उन दिनों बम्बई में थे इसलिए बोतलामृत का पान उनके घर पर न हो सकता था। तय यह हुआ था कि उत्सव महेश के घर पर मनाया जाएगा और खाना किशोर के यहां से आएगा। लेकिन किशोर साहू भूल गए। नौ बजे रात तक हम लोग उनकी प्रतीक्षा में बैठे-बैठे सूखते रहे। किशोर के घर जा नहीं सकते थे क्योंकि वहां जाने पर खाना पड़ता और किशोर के बिना उनके घर से खाना मंगवाना भी बुरा मालूम पड़ रहा था। नौ-सवा नौ बजे हारकर नीचे के ईरानी

होटल वाले से स्लाइस, मक्खन, मटर, महेश के लिए आमलेट आदि मंगवाया। पीने की लज़्ज़त तो रही पर खाना उम्दा न मिला। मैंने उस दिन चिट्ठी पाने के बाद महेश से कहा था, "डॉक्टरी तो रामविलास को मिली है पर उसका नशा मुझ पर चढ़ा है।" रात में महेश बोले, "दोस्त के डॉक्टर होने का नशा तो तुम्हें बखूबी चढ़ा मगर उस्ताद, नशे से तुम्हारा पेट नहीं भर सकता।"

बात अपने ढंग से सही थी लेकिन यह भी सच है कि रामविलास की डॉक्टरी का नशा मेरे मन से आज तक नहीं उतरा। एक तो उन दिनों डॉक्टर शब्द की कीमत बहुत थी। मुर्गी के अण्डों जैसे पैदा होने वाले आज के-से डॉक्टर उस समय न थे। मेरे मित्रों में रामविलास पहले डॉक्टर थे। दूसरे यह कि डिग्रियां और डॉक्टरेट उस समय मेरे मन की सबसे बड़ी कमज़ोरी भी थी। मेरे पिता की बड़ी इच्छा थी कि मैं ऊंची-ऊंची डिग्रियां पास करूं, वह न कर पाया; उसकी कचोट आज तक मेरे मन में है और शायद जीवन-भर रहेगी। इसके साथ ही साथ यह भी सच है कि रामविलास की डॉक्टरी मेरे उस ज़ख्म पर मरहम-सा काम करती है। कभी कोई शास्त्रीय पद्धति की पुस्तक लिखने का विचार मन में आता है तो सोचता हूं कि विलास से कहूंगा। मन की झिझक के बावजूद अपने जी की एक और बचकानी बात भी लिख दूं—रामविलास लिखित 'सत्तावन की राज्य-क्रान्ति' तथा 'भाषा और समाज' पुस्तकें मेरी अहन्ता को ऐसा सन्तोष देती हैं मानो वे स्वयं मेरी ही लिखी हुई हों। भाषा विज्ञान, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास—ये विषय ऐसे रहे हैं जिनपर हमने घण्टों बहसें की हैं।

बम्बई की दुनिया लखनऊ से न्यारी थी। जो काम वहां कर रहा था वह कृति साहित्य से सम्बन्ध रखते हुए भी साहित्य न था। किशोर, महेश और किशोर के पिता श्री कन्हैयालाल जी साहू को छोड़कर बम्बई की फिल्मी दुनिया में एक भी आदमी ऐसा न था जिससे बातें करके मेरा जी जुड़ता। लखनऊ के साहित्यिक वातावरण की याद उसी तरह आती थी जैसे नई ब्याहता को ससुराल में मैके की सखियां याद आती हैं। मेरा ख्याल है, उन दिनों जितने पत्र मैंने लिखे हैं उतने शायद उससे पहले या बाद में नहीं लिखे। यह पत्र भी विशेषतया चार साथियों को लिखे—ज्ञानचन्द जैन, रामविलास शर्मा, गोविन्द-बिहारी खरे और राजकिशोर श्रीवास्तव को। पत्र लिखकर अथवा उनसे अपने

पत्रों के उत्तर पाकर मेरे बंबइया जीवन का श्रमताप हर जाता था। ज्ञानचन्द के पत्रों से इलाहाबाद के साहित्यिक जीवन के समाचार मिलते, राजू के पत्रों से हंसी और गुदगुदी तथा गोविन्द और रामविलास के पत्र से मुझे साहित्यिक लेखन-पठन की प्रेरणा मिलती रहती थी। रामविलास ने अपनी 'कोतवाली' का प्रसार बम्बई तक कर रखा था। सन् '40 के 19 अगस्त को कैलाशचन्द्र दे लेन, सुन्दरबाग, लखनऊ, से लिखा गया एक पत्र रामविलास की मानसिक गतिविधियों का अच्छा परिचय देता है :

"तुम्हारा पत्र कॉलेज से आने पर मिला। इतना लिखकर ललित (ज्येष्ठ पुत्र—अ०) को पढ़ाते-पढ़ाते मैं सो गया। आंखों में अब भी नींद भरी है। एकांकी नाटक के लिए 'गोरखधन्धा' (मेरी एक कहानी—अ०) को यदि वार्ता के रूप में लिख डालो तो कैसा हो। सवेरे उठते ही खोंचेवाले की आवाज़ और उसके बाद वही पारिवारिक चर्चा। घटनाओं का तार टूटने न पाए, एक ही दिन में सब बातें ख़त्म हो जाएं। 'नवाब साहब बम्बई में' (मेरी नवाबी मसनद के नायक) भी अच्छा विषय रहेगा परन्तु पता नहीं यह उन्हें सहन होगा या नहीं।

"एक स्कीम के बारे में तुम्हें लिख रहा हूं। अभी सोते में उसे स्वप्न में नहीं देखा। कई महीनों से वह मन में है। एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जाए। उसमें साहित्य और विज्ञान पर लेख रहेंगे। अब इंटरमीडिएट तक हिन्दी शिक्षा का माध्यम बन रही है। शायद आगे बी० ए० में भी बने। परन्तु उचित पुस्तकों का अभाव है। ये पुस्तकें एक दिन में किसीसे कहकर नहीं लिखाई जा सकेंगी। इसके लिए एक ऐसी पत्रिका चाहिए जहां हम नये लेखक जमाकर उनकी लेखनशक्ति और उनके सेवा-भाव की जांच कर सकें। हमें अपने और बनारस तथा इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों के शिक्षकों से सहयोग प्राप्त होगा। अपने यहां के तो बहुत-से लोगों से मैंने वचन भी ले लिया है। उर्दू में उस्मानिया विश्वविद्यालय से एक ऐसी पत्रिका निकलती है परन्तु हमारे यहां के हिन्दी-प्रेमी अभी मेरी तरह सो रहे हैं। कोई आश्चर्य न होगा यदि हिन्दुस्तानी के नाम पर Intermediate और B. A. में शिक्षा का माध्यम उर्दू बना दी जाए। उर्दू वाले कहेंगे, हमारे यहां पहले से साइंस का अदब मौजूद है। संसकीरत के नये शब्द गढ़ने की क्या ज़रूरत है ?

"विज्ञान पर हम ऐसे लेख अपनी पत्रिका में देंगे जो साधारण शिक्षित पाठकों को भी रुचिकर हों। सामयिक वैज्ञानिक विषयों पर भी, जैसे सर रमन द्वारा आविष्कृत किरणों पर। सर सुलेमान ने जो आइंस्टाइन की 'थ्योरी आफ रिलेटिविटी' की आलोचना की है, उसपर हम आलोचनात्मक और रचनात्मक लेख छापेंगे। दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर भी लेख रहेंगे। नई पुस्तकों और लेखों के सारभाग भी संक्षिप्त रूप में होंगे। हिन्दी की प्रगति की नाप-जोख भी होगी, इतना काम इस दिशा में इस कोटि का हुआ; किधर ज़्यादा काम करना है, आदि। साहित्यिकों के पत्र, कविताएं, पुराने साहित्यिकों के संस्मरण, वर्णनात्मक निबन्ध, आदि पत्रिका की विशेषताएं होंगी।

"एक संख्या में 100-125 पृष्ठ होंगे। मूल्य 1) लगभग, एक संख्या निकालने में करीब 400) खर्च होंगे। यदि 400 ग्राहक हों तो काम चल सकता है। मैं जानता हूं कि केवल ग्राहक बनाकर इस पत्रिका को निकालना दुष्कर है। इसके लिए हिन्दी-प्रेमी धनी सज्जनों की जरूरत है। मैं चाहता हूं कोई सज्जन कम से कम दो अंकों के लिए कागज़ और छपाई का प्रबन्ध कर दें तो काम निकल जाएगा। तुम्हारे मित्र श्री द्वारकादास डागा हिन्दी-प्रेमी हैं, उनके सामने यह मसौदा रखना। क्या वह किसी प्रकार की सहायता कर सकेंगे ? तुम समझ गए होगे, जैसे लोगों को पत्रिका निकालने की धुन होती है, वह मुझे नहीं है। मैंने कई महीनों तक इसपर सोचा भी है। उत्तर शीघ्र देना स्वास्थ्य का ध्यान रखना।—तुम्हारा, रामविलास"

ऐसी स्कीमें रामविलास की कल्पना को सदा से बांधती रही हैं। मुझे याद है, मैंने रामविलास की सलाह पर अपने धनाधीश मित्र श्री डागा से इस सम्बन्ध में बात चलाई थी। पहले तो वे राज़ी हुए, कहा कि डाक्टर शर्मा को यहां बुला लीजिए, बात हो जाए, परन्तु दूसरे ही दिन उन्होंने मुझसे कहा, "पण्डित जी, हमारी राय है कि अभी साल-छः महीने और ठहर जाइए। लोगों की सलाह है कि पहले फिल्म-कम्पनी जम जाए, फिर ऐसे कामों में हाथ डालना उचित होगा।"

मुझे ऐसा लगा कि रामविलास के आगे मेरी नाक नीची हुई जाती है। यह भी सोचता था कि पत्रिका निकलने पर बम्बई के अपने जीवन को मैं सफलता-पूर्वक निभा ले जाऊंगा। दरअस्ल कोरा फिल्मी जीवन मुझे काटता था। मैंने

उलट-फेर कर बहुविधि डागा जी को अपनी बात मानने के लिए राज़ी करना चाहा पर किसी 'दुश्मन' ने भांजी मार दी। मुझे यह तो याद नहीं कि मैंने रामविलास को इस पत्र का उत्तर कब दिया था पर इतना कह सकता हूं कि अपनी असफलता पर दुखी अवश्य हुआ था।

हिन्दी के सम्बन्ध में यह लगन रामविलास के मन में मैंने सदा से 'जागती ज्योति-सी' देखी है। यहां यह स्पष्ट कर देना बहुत ही ज़रूरी है कि किसी भी भाषा के प्रति विलास के मन में अनादर या अवज्ञा की भावना कभी एक क्षण के लिए भी नहीं आई। विलास के प्रगतिशील विद्वान् मित्रों ने कभी-कभी उन्हें संकीर्णतावादी प्रच्छन्न हिन्दू भी माना है। एक सज्जन ने एक बार रामविलास के सम्बन्ध में बातें चलने पर बड़े घुमाव-फिराव के साथ मुझसे कहा, "भइ, तुम्हारे दोस्त के आलिम होने में तो दो राय हो ही नहीं सकतीं मगर वे तअस्सुब ज़रूर रखते हैं।" मैं विलास को तअस्सुबी नहीं मानता। उर्दू के प्रति उनके मन में दुर्भावना तनिक भी नहीं। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे उर्दू के हिमायती आन्दोलनकारियों की हिन्दी के प्रति हिकारत-भरी नज़र से चिढ़ते अवश्य रहे। और रामविलास जब चिढ़ते हैं तो चिढ़ानेवाले की नाक पिच्ची किए बिना उसे छोड़ते नहीं। हिन्दी के प्रति उर्दू के हिमायतियों, काले साहबों और दूसरी भाषाओं के 'स्नाब स्कालरों' की बग़ैर पढ़ी-समझी अन्यायपूर्ण आलोचनाओं से वे तड़प उठते हैं। सेर के जवाब में यदि वे सवा सेर फेंकते तो शायद इतने बदनाम कभी न होते लेकिन सेर पर ढैया, पसेरी या दससेरा बटखरा खींच मारना रामविलास का स्वभाव है। बैसवारे के लोग बड़े अक्खड़ और ज़बर्दस्त लट्ठमार होते हैं—विलास हैं तो आखिर ठेठ बैसवारे के ही।

सन् 1938-'39 के दिनों में ऑल इंडिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति से मोर्चा लेने के लिए रायबहादुर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लखनऊ से आकाशवाणी नामक एक बुलेटिन प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। रामविलास उसके लिए नित्यप्रति अपनी ड्यूटी बांधकर रेडियो सुनते और बुलेटिन के लिए मसाला बटोरते थे। इलाहाबाद के मासिक पत्र 'तरुण' में उनका और श्री रघुपतिसहाय फ़िराक़ का दंगल भी हुआ था। रामविलास ने फ़िराक़ साहब को उठाकर धोंय-धोंय पटका। जिस हिन्दी की कमज़ोरियों के प्रति विलास स्वयं कटु आलोचक रहे हैं उनके लिए भी वे बाहरी आलोचकों का प्रहार नहीं सह पाते। आप

उनकी मातृभाषा की अगर एक कमज़ोरी दिखलाएंगे तो जब तक वह आपकी मातृभाषा या अपनाई हुई भाषा की एक दर्जन कमज़ोरियां न दिखला लेंगे तब तक उनको चैन नहीं पड़ सकता। यहां रामविलास सीधे लठैत हो जाते हैं। उन्हें यह भी परवाह नहीं रहती कि वह न्याय कर रहे हैं अथवा अन्याय। रामविलास अपने विरोधियों को स्वपक्ष में पड़ने का प्रयत्न कभी नहीं करते। सत्य और न्याय ऐसे अवसरों पर उनके हाथ में तलवार बनकर आता है जिसके द्वारा अपने विरोधी की हत्या किए बगैर वो रुक ही नहीं सकते।

सन् 1939 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन काशी में हुआ था। हिन्दी-हिन्दुस्तानी वाली बहस की दृष्टि से यह सम्मेलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से विदा ले रहे थे और सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी नये अध्यक्ष चुने गए थे। इसी वर्ष निराला जी को सम्मेलन के अन्तर्गत साहित्यिक परिषद् का अध्यक्ष भी चुना गया था। लखनऊ से हम और रामविलास साथ ही साथ गए थे। हम दोनों ही यहां से यह तय करके चले थे कि अधिवेशन की एक बहुत उम्दा रिपोर्ट तैयार की जाए। मैं इसी उद्देश्य से नोट्स तैयार कर रहा था। मेरी सहायता के लिए रामविलास ने भी कुछ नोट्स प्रस्तुत किए। चूंकि साहित्य परिषद् के अध्यक्ष निराला जी थे इसलिए रामविलास को एक निबन्ध पढ़कर सुनाना था। वह निबन्ध लखनऊ में ही तैयार हो चुका था। मुझे यह विश्वास तो था कि वह अपना प्रभाव डालेगा मगर सभा में उसके कल्पनातीत ज़ोरदार प्रभाव को देखकर मैं और स्वयं रामविलास भी दंग रह गए। सन् '39 के अगस्त या सितम्बर मास की 'माधुरी' में मेरा लिखा वह संस्मरण सम्पादकीय स्तम्भ में गुमनाम तौर से प्रकाशित हुआ है। रामविलास से सम्बन्धित उस संस्मरण की कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत कर रहा हूं, "साहित्य परिषद् के सभापति थे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और स्वागताध्यक्ष थे श्री रामचन्द्र शुक्ल।...निराला जी के भाषण के बाद श्री रामविलास शर्मा अपना निबन्ध पढ़ने के लिए खड़े हुए। माइक्रोफोन ऊंचा था। माननीय श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने कहा : 'निराला जी को माइक्रोफोन के लिए झुकना पड़ता था।' शर्मा जी ने तत्काल ही उत्तर दिया : 'जहां निराला जी झुके हैं वहां मैं सिर उठाऊंगा।' निराला जी मुस्कराकर टण्डन जी से कहने लगे, 'देखिए ये आधुनिक साहित्य के प्रतिनिधि हैं।'

साधारण खद्दर के कुरते में चमकते हुए कसरती बदन, सौम्य मुखमण्डल और ज़ोरदार आवाज़ में शर्मा जी के तर्कयुक्त विद्वत्तापूर्ण निबन्ध ने जान डाल दी। साहित्य सम्मेलन-भर में और कोई भी इतना ओजस्वी भाषण नहीं हुआ। जनता उत्साह से बार-बार करतल ध्वनि करती थी। तदुपरान्त···'सर्वोदय' सम्पादक महात्मा गांधी के प्रिय शिष्य, काका कालेलकर के भाषण से यह साफ टपक रहा था कि वे रामविलास शर्मा के भाषण का उत्तर देने के लिए खड़े हुए हैं। उनके भाषण में असफल खीझ काफी मात्रा में थी।

उक्त निबन्ध ने रामविलास को सम्मेलन का हीरो बना दिया। हम नौजवान तो खुश थे ही, हिन्दी परिवार के बड़े-बूढ़े भी उनसे खूब सन्तुष्ट और बेहद प्रसन्न थे। वहां ही मैंने पहली बार गौर से यह देखा कि निराला जी रामविलास की सफलता को ठीक उसी प्रकार मौन आनन्द से ग्रहण करते हैं जैसे कोई बाप अपने बेटे की सफलता को सकारता है। बाद में तो प्रायः प्रतिदिन मैं अपनी 'नई खोज' के प्रमाण पाता रहा।

रामविलास के प्रति निराला जी का प्रेम अबाध और अगाध था। बहुतों को शायद यह बात अटपटी-सी मालूम होगी पर यह हकीकत है कि निराला जी को यदि मैंने किसीके सामने झुकते देखा है तो रामविलास के सामने ही। मेरी यह आदत थी कि निराला जी जब गर्माने लगते थे तो मैं उनसे बहसबाज़ी करना बन्द कर देता था। इससे निराला जी और भी अधिक हुमस-हुमसकर गर्जा करते थे मगर मुझे निरुत्तर पाकर थोड़ी देर में ही चुप हो जाया करते थे। रामविलास मेरी जैसी चुप्पी के कायल न थे, जहां निराला जी ने गर्जन-तर्जन आरम्भ किया नहीं कि रामविलास ने उन्हें और चहकाना शुरू कर दिया। विलास की टेकनीक यह रहती थी कि निराला जी के उबाल पर ठण्डे पानी के चुल्लू जैसा एक छोटा-सा वाक्य फेंक देते थे। विरोध पाकर निराला जी और उबलते, रामविलास फिर एक फुलझड़ी छोड़ देते। निराला जी फिर तो जी खोलकर अपने लम्बे-लम्बे बालों और यूनानी देवताओं जैसे शरीर को बार-बार झटका दे-देकर बबर शेर की तरह दहाड़ने लगते। रामविलास मौका साधने लगते, जहां निराला जी के एक वाक्य के पूरा होने और दूसरे वाक्य की उठान के बीच में ज़रा-सा भी थमाव आता वहीं एक चुभता हुआ फिकरा अपने ठण्डे स्वर में और छोड़ देते। बस फिर तो निराला जी क्रोध से बावले हो उठते थे। अपने क्रोध के लिए अपने

अन्दर कोई ज़ोरदार तर्क न पाकर वह बेचारे उत्तर तो दे न पाते थे, हां हारे हुए पहलवान की तरह घूर-घूरकर रामविलास को देखते हुए वे बड़ाबड़ाने लगते थे। रामविलास अपने स्वभाव से विवश हैं। बेतुकी बात सुनकर उनसे बगैर जवाब दिए रहा ही नहीं जाता।

सन् '44 में रामविलास बम्बई आए। उस समय तक वे प्रगतिशील आन्दोलन से प्रभावित होकर बहुत हद तक मार्क्सवादी हो चुके थे। प्रगतिशील लेखक संघ से उनका निकट सम्बन्ध स्थापित करनेवालों में मेरा खयाल है सबसे बड़ा हाथ कविवर नरेन्द्र शर्मा का था। नरेन्द्र जी भी तब तक फिल्म-क्षेत्र से सम्बद्ध होकर बम्बई आ बसे थे। हम तीनों का वहां मिल जाना हम तीनों के लिए ही अत्यन्त लाभप्रद हुआ। सन् '42 के आन्दोलन के बाद मेरा मन बहुत बिखर गया था। उस समय ऐसा लगता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन अब खत्म हो गया। जेलों में कैद नेता अब लड़ाई चलने तक न छूटेंगे और लड़ाई कब तक खत्म होगी यह उन दिनों कहा नहीं जा सकता था। रामविलास की नई उपलब्धि—मार्क्सिस्ट विचारधारा मुझे भी लुभाने लगी। हम लोग घंटों आपस में बातें करते। एक दिन शाम को घर लौटने पर बातों के प्रसंग में विलास ने मुझे बतलाया कि वे कम्युनिस्ट पार्टी के विधिवत् सदस्य बन गए हैं। सुनकर मेरे दिल को एकाएक धक्का लगा। किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य हो जाना मुझे चूंकि स्वयं अपने लिए पसन्द नहीं आता था इसलिए रामविलास का यह काम मैं सराह नहीं सका। मैंने कहा, "तुमने यह अच्छा नहीं किया। पोलिटिकल नेता अधिकतर साहित्य को बड़े ही हल्के तौर पर ग्रहण करता है।"

रामविलास बोले, "कम्युनिस्ट पार्टी तुम्हारी कांग्रेस की तरह नहीं है भैये! यह मत भूलो कि लेनिन के साथ बराबरी से रूसी जनता का नेतृत्व करनेवाला एक साहित्यकार गोर्की भी था। यह मत भूलो कि स्वयं मार्क्स और एंगेल्स राजनीतिक नेता नहीं वरन् विद्वान् दार्शनिक थे। साहित्यिकों के लिए अगर किसी भी पार्टी में महत्त्व का स्थान है तो कम्युनिस्ट पार्टी में ही।" "होगा···" सोचकर मैंने फिर उनसे बहस नहीं की। हां, इसके बाद मार्क्सवादी विचारधारा की पुस्तकों का गंभीर अध्ययन मैंने अवश्य आरम्भ कर दिया। रामविलास तेज़ी से पार्टी में आगे बढ़े, लेकिन जहां तक मैं जानता हूं उन्हें पार्टी की अंतरंगता में कभी भी प्रविष्ट नहीं कराया गया। उनकी विद्वत्ता अच्छे-

अच्छों को अपने बस में कर लेती थी। सन् '49 में रामविलास प्रगतिशील आन्दोलन के प्रमुखतम नेता मान लिए गए और यहीं से उनके और पार्टी के रिश्तों में अन्तर पड़ना भी प्रारंभ हो गया। पोलिटिकल लीडरी में ऊंचा स्थान पाते ही लोग-बाग अपनी गद्दी को कायम रखने के लिए गुटबाजी के चक्र में पड़ जाते हैं; अपना गुट बनाना, दूसरों के गुट तोड़ना हर लीडर का धर्म है। प्रगतिशील लेखक संघ के महामंत्री डॉ० रामविलास शर्मा ऐसी लीडरी करने के आज भी सर्वथा अयोग्य हैं, उस समय तो थे ही। वे निर्भीक विचारक और समालोचक की तरह दूसरे लोगों की कमज़ोरियों को टोक देते थे। यह टोक-टाक बहुतों को अन्दर ही अन्दर सहमा देती थी। अनेक प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक रामविलास की आलोचनाओं से आतंकित हो उठे। दबे-छिपे उनका विरोध होने लगा। कम्युनिस्ट पार्टी में श्री बी० टी० रणदिवे का सत्ताकाल समाप्त हुआ और करीब-करीब उसके साथ ही साथ रामविलास की साहित्यिक लीडरी भी खत्म होने लगी। रामविलास अपने आलोचकों को बराबर मुंह तोड़ जवाब देते रहे। प्रगतिशीलों ने रामविलास पर यह आरोप लगाया कि उनकी आलोचनाओं के कारण ही साहित्य का प्रगतिशील आन्दोलन चौपट हो रहा है। अनेक मार्क्सिस्ट या कम्युनिस्ट लेखक ही नहीं चिढ़े वरन् अनेक ऐसे लेखक, जो कहीं न कहीं पर विचारसाम्य होने के कारण प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़े हुए थे, एकाएक बेहद नाराज़ हो उठे। बहाने के तौर पर पन्त जी की तत्कालीन नई कृतियों, स्वर्ण-किरण आदि की रामविलास द्वारा की गई तीखी आलोचना इस विरोध के लिए तात्कालिक कारण बन गई। यहां तक भ्रम फैलाया गया कि रामविलास चूंकि निराला-भक्त हैं इसीलिए उन्होंने पन्त पर प्रहार किए। मैं लोगों के इस तर्क को एक क्षण के लिए भी स्वीकार नहीं कर पाया। रामविलास निराला-भक्त हैं, यह सब जानते हैं पर पन्त के प्रति भी उनकी श्रद्धा किसी से कम नहीं, यह हम लोग जानते हैं। कविवर नरेन्द्र जी की पन्त-भक्ति रामविलास की निराला भक्ति के समान ही एक लोक विदित सत्य है। रामविलास, नरेन्द्र, और मैं—तीनों ही आपस में गहरे साथी हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि जब स्वयं नरेन्द्र शर्मा को भी रामविलास के विरोध में पन्त के प्रति अश्रद्धाभाव रखने की बात पर आज तक विश्वास नहीं हो सका तब औरों को ही क्यों होता ?

रामविलास आलोचना के मामले में निस्पृह हैं। (आखिर असर तो बैसवारे

का है ही।) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के भी यही तेवर थे। अपने से सदियों पुराने पुरखे कालिदास से लेकर अपने समवर्ती लेखकों तक को उन्होंने न बख्शा। पूज्य द्विवेदी जी महाराज अपनी इस न्यायोन्मुखी आतंक मुद्रा के बावजूद अपनी सहृदयता के लिए भी प्रसिद्धि पा गए, किन्तु बहुत बाद में। मैं समझता हूं कि 'घमण्डी' डॉ० रामविलास शर्मा के सम्बन्ध में भी कभी न कभी यह लोक-प्रचलित गलतफहमी दूर होकर रहेगी। यों भी इधर वर्षों से उन्होंने अपना समालोचकीय आतंकवाद बहुत-कुछ त्याग दिया है। उनके इस त्याग का पुण्य या पाप (जो कुछ भी समझा जाए) अधिकतर मुझे ही मिलना चाहिए। एक बार शाम को भांग के नशे में मैंने रामविलास को बहुत गालियां दीं। रामविलास ठण्डे-ठण्डे सुनते रहे। उनको इस प्रकार गालियां देने का कारण मैंने चूंकि स्पष्ट नहीं किया इसलिए उन्होंने मेरे आवेश के क्षण बीत जाने के बाद मेरी ओर एक सिगरेट बढ़ाते हुए मुझसे पूछा, "तू आखिर चाहता क्या है भैयो ?"

मैंने कहा, "केवल यही चाहता हूं कि यह मुफ्त की ठांय-ठांय मोल लेना आज से छोड़ दो। तुम्हारी गली में कुत्ते भौंकते हैं और तुम अपना काम छोड़ हाथ में लाठी लेकर उनके पीछे दौड़ पड़ते हो, यह भला कहां की अक्लमंदी है।"

रामविलास सिगरेट का कश खींचकर बोले, "ठीक है, अब न करूंगा लेकिन कुत्ते अगर मेरे घर में घुसें तब क्या करूं ?"

मैंने कहा, "तब उन्हें हरगिज़ न बख्शना।" रामविलास ने तब से अपनी यह लठाभारती प्रायः छोड़ ही दी है। यदि कोई उनसे किसीपर आलोचना प्रहार करने के लिए कहता है तो कह देते हैं, "भइ, अमृत ने मुझे गली के कुत्तों से लड़ने को मना कर रखा है।" रामविलास के इस तरह लाठी उठाकर रख देने का सुपरिणाम भी स्पष्ट है। उसके बाद रामविलास ने 'सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति' तथा 'भाषा और समाज' जैसी दो ठोस किताबें हिन्दी में तथा उन्नीसवीं शताब्दी की अंग्रेज़ी कविता के सम्बन्ध में एक पुस्तक अंग्रेज़ी भाषा में हमें दी है। इस समय भी वे निरालाजी और शेक्सपियर पर दो पुस्तकें क्रमशः हिन्दी और अंग्रेज़ी में लिख रहे हैं। मैं समझता हूं कि इस तरह उनपर रोक लगाकर मैंने एक अच्छा काम ही किया है। बुराई महज़ इतनी ही नज़र आती है कि लोग-बाग अब रामविलास को दन्त-नखहीन सिंह समझकर उन्हें चिढ़ाने

अथवा नज़र अन्दाज़ करने की धृष्टता करने लगे हैं। ऐसे विचारशून्य दम्भियों को यह हरगिज़ नहीं भूलना चाहिए कि रामविलास ने उनके घर में घुस आने वाले कुत्तों को न मारने का वचन मुझे नहीं दिया।

अक्सर रामविलास के सम्बन्ध में मैंने लोगों को यह कहते हुए सुना है कि हांऽऽ, डाक्टर शर्मा विद्वान् तो बड़े ऊंचे दर्जे के हैं, सज्जन भी हैं बस उनमें खराबी है तो यही कि वो कम्युनिस्ट हैं। यह सुनकर हंस पड़ने के सिवा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जैसा कि मैं पहले लिख आया हूं कि उनका कम्युनिस्ट पार्टी का मेंबर होना स्वयं मुझे भी खला था लेकिन खलने का कारण कुछ और था। शुरू में मुझे यह भय था कि मेरा डॉक्टर अब हिज़ मास्टर्स वायस बन जाएगा और पार्टी के काम में फंसकर अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा परन्तु ऐसा कुछ भी न हुआ। राजनीति से उनका गहरा लगाव है लेकिन कोरे शास्त्रीय रूप में ही। कोई भी राजनीतिक पार्टी ऐसे स्वतंत्र व्यक्तित्वशाली पुरुष को पचा नहीं सकती। पार्टी के ठेकेदारों ने उन्हें अपने अन्दर घुलने-मिलने नहीं दिया। रामविलास भला अपनी ओर से यह प्रयत्न करते ही क्यों ? नतीजा यह हुआ कि रामविलास पार्टी के मेंबर हो जाने के बावजूद वर्षों से पार्टी के बाहर ही हैं। उनके कम्युनिज़्म को भी अब मैं ठण्डे तौर पर खूब समझता हूं। रामविलास का बचपन गांव में अपने पितामह की छत्रछाया में बीता। उन्होंने अपने गांव में सामन्ती और महाजनी अनाचारों को देखा है। वे उन्हें आमूल नष्ट कर देने के लिए ही अपनी कलम के बल पर जूझते हैं। रामविलास के बाबा-परबाबा और शायद उनसे भी पहले के पुरखे सिपाही थे। बचपन में अपने पितामह से उन्होंने शौर्य, सचाई और ईमानदारी से सम्बन्धित अनेक बातें सुनी थीं। उसका जोश उनके अन्दर अब तक ज्यों का त्यों विद्यमान है। रामविलास का कम्युनिज़्म मूलतः उनके बाबा की देन है। रामविलास के बाबा स्वयं अपने पुत्र (रामविलास के पिता) से भी इसलिए असन्तुष्ट थे कि उन्होंने एक साहूकार के यहां नौकरी कर ली थी। वे उन्हें बनिये का नौकर कहकर सम्बोधित किया करते थे। उन्होंने रामविलास के मन में अपने पिता के मार्ग पर न चलने देने के लिए एक प्रबल प्रेरणा भर दी थी। नतीजा यह हुआ कि पढ़-लिखकर रामविलास ठीक-ठीक उस तरह के 'भद्र बाबू साहब' न बन सके जैसे कि गांव के लोग पढ़-लिखकर अक्सर बन जाया करते हैं।

रामविलास के मन से धरती की सोंधास कभी गई नहीं, वे आज तक उसकी महक से महकते हैं। मुझे बचपन ही से तुलसीकृत रामायण के प्रति गहरा लगाव है। सन् '30 के बाद हिन्दी साहित्य में तेज़ी से बढ़नेवाली बुद्धि-वादिता के ज़माने ने मेरी सांस्कारिक आस्तिकता को गहरा झटका दिया था। उस झटके का उपकार मानता हूं। ईश्वर या देवी-देवताओं के प्रति हमारे मनों में भक्ति की जो अंधी दौड़ होती है उसे खत्म होना ही चाहिए। यह तो मेरा मन तब से ही मानने लगा था किन्तु यह बात मेरे गले के नीचे कभी उतर ही न सकी कि प्राचीन धार्मिक-पौराणिक साहित्य पढ़ने योग्य ही नहीं है या उसमें अन्धी श्रद्धा-भक्ति देनेवाले कोरे राम-राम के सिवा और कुछ भी नहीं है। मेरे समवर्ती सुशिक्षित साहित्यिक बन्धु रामायण को ओछी दृष्टि से देखते थे। बहुतों की दृष्टि में तुलसीदास रघुवंशी राजा रामचन्द्र के भाट मात्र थे। अपने पास उस समय समाजवादी वैज्ञानिक चिन्तन की बुद्धि कम थी। इसलिए जब यूनिवर्सिटी में पढ़नेवाले प्रतिभाशाली छात्र श्री रामविलास शर्मा मुझे तुलसीदास की प्रशंसा करते हुए मिले तो कह नहीं सकता मुझे कितना बड़ा बल मिला था। रामविलास जिस दृष्टिकोण से रामचरित मानस की महत्ता बखानते थे वह मुझे स्वयं अपना ही लगा। रामविलास एक ओर जहां धार्मिक ढोंग-धतूरों के कट्टर विरोधी थे वहां ही वे तत्सम्बन्धी साहित्य का नए दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते हुए उसके प्रगतिशील तत्त्वों को पहचानकर उन्हें प्रतिष्ठा देते थे। उस समय तक तो वे मार्क्सिस्ट या कम्युनिस्ट भी न थे। मेरी रामविलास से घनिष्ठता का तब से लेकर आज तक एक ज़बर्दस्त कारण यह भी है। इसे मेरा दम्भ न माना जाए कि हम लोगों का दिमाग भाड़े का टट्टू नहीं बल्कि अपना है। 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' की तरह किसी भी बड़े आदमी की कही या लिखी हुई बात हम अन्धश्रद्धाभक्ति से ज्यों की त्यों स्वीकार नहीं करते। हम दोनों ही अपनी धरती, अपने जन को अपने चिन्तन में प्रतिक्षण साथ लेकर चलते हैं। हम अपने निष्कर्षों में अवसर गलत भी हो सकते हैं यह माना परन्तु हम अपने साथ के और बाद वाली पीढ़ी के भी कोरे किताबी पण्डितों से कहीं अधिक स्वस्थ और सच्चे हैं।

मेरी और रामविलास की एक आपसी कचोट शुरू से ही चली आती है। रामविलास की यह बड़ी तबीयत होती है कि वे उपन्यासकार और नाटककार के रूप में भी सफलता पा सकें, दूसरी ओर मेरे मन को डॉ० अमृतलाल नागर

बनने की चाह ने बहुत भरमा रखा है। अभी हाल में ही रामविलास के शेक्सपियर को जब मेरे अन्दर वाले ड्रामा प्रोड्यूसर ने एक सहज तर्क से आत्मसात् कर लिया तो रामविलास दूसरे ही दिन से क्लासिक ग्रीक ट्रेजडी के ढंग का नाटक लिखने की धमकी देने लगे। उनकी इस धमकी से मैं भला क्या डरने वाला हूं। मैंने कहा, "लिखो, मैं प्रोड्यूस करूंगा।" और यह मैं जानता हूं कि बच्चू रंग-मंच के विधान में कहीं न कहीं बेतुकी चूक करेंगे ही और मैं दस बार उनसे लिखवाऊंगा। इस मामले में मैं रामविलास से अधिक सयाना हूं। 'ये कोठेवालियां' लिखने से पहले मेरे मन में बड़ा जोम था कि मैं उसे बिलकुल शास्त्रीय ढ़ंग से लिखकर रामविलास की डॉक्टरी को फीका कर दूंगा। अध्याय उस ढंग से बनाए और लिखना भी आरम्भ किया। दो-चार दिनों के बाद ही मुझे अपने अन्दर रामविलास का व्यंग्य-भरी फिसफिस हंसी वाला चेहरा झांकता दिखाई देने लगा। तुरंत सोचा कि मैं अपनी किताब में कहीं न कहीं रामविलास को अपनी कच्ची पकड़ें दे जाऊंगा। ये मुझे बर्दाश्त न था। तुरंत सोचा, पंडित बनने के बजाय अपनी किस्सागोई का सहारा लेना ही उचित होगा। और हम दोनों की यह आपसी छेड़ जब इस अधेड़ उम्र में भी हमारे मनों से न गई तो अब मरते दम तक न जा सकेगी। बुरा नहीं, यह हम दोनों की ही जवानी है। इस के सहारे हम होड़ लगाकर आगे बढ़ते हैं। यही नहीं हम दोनों एक-दूसरे के अत्यधिक तीखे आलोचक हैं। मैं कोई चीज़ लिखूं, उसे सारी दुनिया पसन्द करे मगर यदि वह रामविलास के मन नहीं चढ़ सकी तो मेरे जी से भी उतर जाएगी। यही हाल रामविलास का भी है चाहे जो कुछ भी लिखें उसके वास्ते मेरी सराहना पाना उनके लिए अनिवार्य है। रामविलास की 'निराला' वाली पुस्तक उनके प्रकाशक से ले आया क्योंकि वह मुझे पसन्द नहीं थी। प्रकाशक को मेरी यह हठ-धर्मी खल गई। उसकी नजर में एक किस्सागो एक चक्रवर्ती समालोचक विद्वान् यानी डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक को न छपने दे और वह भी खास तौर पर निराला के सम्बन्ध में उनकी लिखी हुई पुस्तक हो, यह बहुत ही अजब और बेजा बात थी। मैं वह पाण्डुलिपि अपने साथ आगरा ले आया। मैंने अपनी शिकायतें उनके सामने रखीं। किताब नए सिरे से लिखी गई। सुबह रामविलास ढाई-तीन घण्टे बोलते थे, मैं लिखता था। बीच-बीच में बहसें भी हो जाती थीं। इस तरह महीने-डेढ़ महीने में वह पुस्तक फिर से तैयार हुई। कितने ऐसे दोस्त होंगे जो

दोस्त का मन रखने के लिए इस तरह अपने लिखे दो-ढाई सौ पृष्ठों को काटकर अज़सरे नौ उतने ही पृष्ठ फिर से लिखेंगे। अपने मित्रों, भाइयों और बच्चों के प्रति रामविलास चेतन कर्त्तव्यनिष्ठ हैं। वे एक अच्छे पति, आदर्श शिक्षक, उम्दा पड़ोसी हैं, भले इंसान हैं। सादा रहन-सहन और ऊंचा चिंतन उनका जन्मजात गुण है। अपना नया घर बन जाने पर वे अपने बच्चों के आग्रह और भाभी (श्रीमती शर्मा) की कृपा से अब ज़रा भद्रबाबुओचित ढंग से रहना सीखे हैं।

रामविलास के संस्मरण लिखने को अभी बहुत जी नहीं चाहता। इसे भले ही मेरा खब्त समझ लिया जाए मगर तमन्ना यही है कि मैं अपने दोस्तों के संस्मरण न लिखूं और उन सबको ही मेरे संस्मरण लिखने के लिए नियति मजबूर करे। रामविलास को अभी बहुत-बहुत जीना चाहिए। रामविलास के मन में अभी बीस अच्छी किताबों की योजना बड़े सुलझे और साफ तरीके से संजोई हुई मौजूद है और मेरी इच्छा है कि वह ये सब-कुछ लिख जाएं। रामविलास संपूर्ण जीवन का आचमन कर जाने की तड़प रखने वाले अथक साधक हैं। उनकी इसी साधना पर तो मैं निसार हूं।

उनकी एक कचोट और है, वे मुझसे ढाई साल बड़े हैं। वे और नरेन्द्र शर्मा समवयस्क हैं। एक-सी घनिष्ठता होते हुए भी मैं नरेन्द्र जी को 'आप' कहकर सम्बोधित करता हूं और डॉक्टर को तुम या तू कहकर। बात असल में यह है कि नरेन्द्र जी से मेरी घनिष्ठता बाद में हुई इसलिए उम्रोचित तकल्लुफ मैं उनके साथ सहजभाव से बरत गया जबकि रामविलास के साथ मेरा यह खाता शुरू से ही न पड़ सका। मैं कई बार समझा चुका कि नरेन्द्र जी के आप और तेरे तुम में कोई मौलिक भेद नहीं। पर क्या कहूं, इतने बड़े विद्वान को यह मामूली-सी बात भी आज तक समझ में नहीं आई। खीझकर अब मैंने यह तय किया कि जब रामविलास का षष्ठिपूर्ति समारोह होगा तब सार्वजनिक रूप से मैं उन्हें अपना अग्रज मानकर उनके पैर छू लूंगा। लेकिन उसके बाद फिर वही गाली-गलौज और तू-तड़ाक, जस की तस। मेरे जीते जी उन्हें इससे मुक्ति मिल ही नहीं सकती।

[1964]

मेरे अभिन्न नरेन्द्र शर्मा

सत्ताईस फरवरी, सन् 1963 ईसवी। सुबह ही से मेरी पत्नी ने याद दिलाना शुरू किया, "आज तार लगाना न भूलना जिससे कल सवेरे तक नरेन्द्र जी को मिल जाए।"

"हां, हां, लगा दूंगा।" दिन में भोजन के समय पत्नी ने फिर तार की याद दिलाई। मैंने कहा, "याद है बाबा, याद है।" लेकिन यह कहने के साथ याद आई तो कविवर की स्वर्णजयन्ती की नहीं वरन् उनकी नवजवानी के दिनों की—सन् '36-'37 के दिनों की—जब नरेन्द्र शर्मा के गीत गा-गुनगुनाकर हम लोग अपने नवजवान दिलों में प्यार और रोमांस की भावनाओं को पोसा करते थे। बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर उन दिनों हमारे दिलों को ताज़गी देनेवाले ताज़े-ताज़े नाम थे। हमारे सौभाग्य से उन दिनों भद्दे फिल्मी गानों की भरमार नहीं थी। कविताएं पढ़ी और गाई जाती थीं। पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, भगवती-चरण आदि के गीत धीरे-धीरे हमारे दिलों में घर कर चुके थे। कवि सम्मेलनों की बाढ़ आ चुकी थी। अपने साथी-से लगने वाले बराबर आयु के बच्चन, नरेन्द्र हमारे मन मोहने लगे थे। मैं तब से ही नरेन्द्र जी के प्रशंसकों में हूं। सन् '37-'38 के लगभग ही इलाहाबाद जाने पर मेरा-उनका परिचय हुआ। घनिष्ठ हम बाद में हुए, लगभग पांच-छः वर्ष बाद बम्बई में। वह घनिष्ठता फिर अभिन्नता में बदल गई। नरेन्द्र जी अब हमारे परिवार के ही एक अंग बन गए हैं। घर में औरों की वर्षगांठ पड़ने पर जैसे मुंह मीठा किया जाता है वैसे ही प्रतिवर्ष 28 फरवरी के दिन हमारे घर मोहनभोग बनता है। उस दिन तीसरे पहर पत्नी फिर याद दिलाने आई, "तार लगा दिया?" "हां-हां बाबा, हां! तुम क्यों बुढ़ापे को बधावा देने के लिए आज सवेरे से ही मेरे पीछे पड़ी हो?"

"बुढ़ापा क्या बुरी चीज़ है? अपने जवान बच्चों की सूरतें देखो और

कलेजे पर हाथ धरके कहो कि बुढ़ापा बुरा लगता है।" मैं लाजवाब हो गया सचमुच अपने आगे की जवान पीढ़ी को देखते हुए अपनी ओर बढ़ता हुआ बुढ़ापा बुरा नहीं लगता और फिर पचास वर्ष की आयु भी कोई आयु है। हमारे यहां लोग साठे पर पाठे होते हैं। इस तरह तो अब बन्धुवर की नवजवानी का काल आरम्भ हुआ है, भले ही इस नई नवजवानी के दौर में कविवर 'आज न सोने दूंगी बालम' जैसे गीत न लिखें। उस दिन फिर बड़ी देर तक नरेन्द्र जी के पिछले जीवन की बातों में मेरा ध्यान रमा रहा।

मैं पूरब का रहने वाला हूं, लखनऊ का बाशिंदा, पुरखे इलाहाबादी थे। मेरी पत्नी आगरे की हैं, पछांह की। नरेन्द्र जी भी खुरजा के हैं, पछांह। अक्सर पूरब-पच्छिम विवाद छिड़ जाता है। नरेन्द्र जी लखनऊ के नवाबों से लेकर पूर्वी यू० पी० के भातखौवा लोगों तक पर पैनी चोटें कर जाते हैं। मेरे पास उन्हें पछाड़ने के लिए दो ही तर्क हैं, एक तो खुरजा नाम—कुरु जांगल यानी कौरवों का जंगल। इस दृष्टि से हम शहरी लोग नरेन्द्र जी को आखिर क्यों कहें, दूसरे काव्य की दृष्टि से वह इलाका निहायत बांझ किस्म का है। ढाई सौ वर्षों में कुल जमा दो प्रसिद्ध कवि वहां से मिले, एक सेनापति, दूसरे नरेन्द्र शर्मा। बुलन्दशहर ज़िले के इन दोनों ही कवियों को प्रतिष्ठा मिली पूर्वी यू० पी० के इलाहाबाद में। बन्धुवर नरेन्द्र जी इस तर्क के आगे मौन हो जाते हैं। जब साहित्य-क्षेत्र में उन्हें अपनी जन्मभूमि की प्रशंसा के लिए बल नहीं मिलता तो चट से कहने लगते हैं कि रबड़ी और खुरचन के मज़े जो हमारे यहां हैं वो आप लोगों को नसीब नहीं। मैं मिठाई भक्त हूं, इसलिए उनके इस तर्क को काट नहीं पाता। जो भी हो, इतना अवश्य कह सकता हूं कि इलाहाबाद के प्रति उनके मन में अत्यधिक आकर्षण होने के बावजूद, बम्बई में घर बसा लेने के बाद भी नरेन्द्र जी अपने जहांगीरपुर ग्राम को भूल नहीं पाते, उन्हें वहां की मिट्टी से मोह है। सम्पन्न गौड़ ब्राह्मणों के परिवार में शुक्रवार, 28 फरवरी सन् 1913 ई० में उनका जन्म जहांगीरपुर में हुआ था। उनका घर गांव में 'स्वामियों का घराना' कहलाता है। नरेन्द्र जी की अल्प आयु में ही उनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया, उन्हें अपने दो ताउओं का ही संरक्षण और प्यार मिला। पढ़ने में शुरू ही से तेज़ थे, इसलिए गांव की पढ़ाई पूरी करने के बाद वे खुरजा भेज दिए गए। ये जिस स्कूल में पढ़ते थे उसके हेडमास्टर आज के सुप्रसिद्ध नाटककार

श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई० सी० एस० के पिता थे। नरेन्द्र जी उनके अत्यन्त ही प्रिय छात्र हो गए। आयु में तीन-साढ़े तीन वर्ष बड़े होने के कारण, उसी नाते जगदीशचन्द्र जी आज तक नरेन्द्र जी को 'नरेन्द्र भाई' कहकर पुकारते हैं। खुरजा में रहते हुए नरेन्द्र जी के मन पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा और नव-जवान भारत सभा का भी। उनके अन्तर का कवि भी शायद पहले-पहल यहीं उदय हुआ।

इण्टरमीडिएट पास करने के बाद बन्धुवर श्री नरेन्द्र इलाहाबाद चले आए। खुरजा की कुछ मीठी यादों ने टीस बनकर नरेन्द्र जी के मन में पलना आरम्भ कर दिया। कविताएं तेज़ी से लिखने लगे और उनकी कविताएं 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर भी छपने लगीं। इसी बीच में उन्हें अपने परमप्रिय कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत से साक्षात् मिलने और घनिष्ठ होने का अवसर भी मिला। तब से आज तक पंत जी के प्रति उनका वैसा ही अनन्य श्रद्धा-भाव है। नरेन्द्र शर्मा कुछ ही दिनों में पक्के इलाहाबादी हो गए। सुकविद्वय शमशेरबहादुरसिंह और केदारनाथ अग्रवाल तथा कहानी-लेखक श्री वीरेश्वर सिंह हिन्दू बोर्डिंग हाउस में उनके साथी थे। बच्चन जी से उनका मन मिला हुआ था और ये सब के सब महामस्त नवजवान थे। पंत, महादेवी, भगवती चरण इनके अग्रज थे। प्रायः सभी बड़ों ने नरेन्द्र जी के लाड़ लड़ाए। स्व० नवीनजी नरेन्द्र जी को पुत्रवत् मानते थे। मस्ती, हाज़िरजवाबी, कुशाग्र बुद्धि और अपनेपन का भाव नरेन्द्र जी की मोहिनी शक्तियां हैं।

इलाहाबाद श्री नरेन्द्र के व्यक्तित्व की विकास-भूमि है। यहां उन्होंने 'भारत' के सम्पादकीय विभागों में काम किया, पंत जी के साथ 'रूपाभ' सम्पादक के रूप में प्रगतिशील विचारधारा के पोषक और अगुवा बने, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में उपसचिव की हैसियत से काम किया, राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। कुछ दिनों काशी में अध्यापक रहे। राष्ट्रकर्मी होने के 'अपराध' में उन्हें जेल की सज़ा भी भुगतनी पड़ी। जहां तक मुझे याद पड़ता है बनारस जेल में श्रद्धेय डॉ० सम्पूर्णानन्द जी, सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी स्व० शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि उनके साथ ही थे। बनारस जेल से नरेन्द्र जी को देवली कैम्प जेल में भेजा गया। उन दिनों राष्ट्रीय कैदियों के लिए देवली जेल रौरव और कुम्भीपाक नरक से भी अधिक कष्टप्रद मानी जाती थी। देवली

जेल के राजनैतिक बन्दियों द्वारा की जानेवाली उन दिनों की बहुचर्चित भूख-हड़ताल में श्री नरेन्द्र भी शामिल थे। इन तमाम कष्टों को भोगते हुए भी देवली में नरेन्द्र जी ने अध्ययन खूब किया। देवली जेल के पुस्तकालय ही में नरेन्द्र जी को ज्योतिष-विद्या सम्बन्धी साहित्य पढ़ने का अवसर भी अकस्मात् मिल गया।

जेल यातनाओं ने नरेन्द्र जी के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। जेल-मुक्त होने के बाद वे रोग ग्रस्त हो गए। मैं उन दिनों बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में लेखन-कार्य करता था। भगवतीचरण जी वर्मा भी उन दिनों बॉम्बे टाकीज़ में ही काम करते थे। वहां एक गीतकार की आवश्यकता थी, भगवती बाबू आग्रह-पूर्वक नरेन्द्रजी को बॉम्बे टाकीज़ में ले आए। पहली ही फिल्म 'वसंत' में गीत-कार की हैसियत से नरेन्द्रजी ने अपने झण्डे गाड़ दिए। बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में श्री नरेन्द्र की लोकप्रियता तेजी के साथ बढ़ी, एक दोष भी आया। फिल्मवाले ज्योतिषियों के पीछे दीवाने रहते हैं, बहुतसे प्रोड्यूसर, डाइरेक्टर, अभिनेता और अभिनेत्रियां अपनी-अपनी जन्म-कुण्डलियां लिए हुए वक्त-बेवक्त कविवर को घेरा करते थे। मुझे बड़ी झुंझलाहट होती थी लेकिन कविवर किसीको भी निराश न लौटाते थे। उनकी इस उदारता ने फिल्म-क्षेत्र के लोगों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। आज फिल्म क्षेत्र से जब कि उन्होंने अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है तब भी फिल्म क्षेत्र के बड़े-बड़े नाम चीन्ह लोग उनके प्रति श्रद्धाभाव प्रकट करते हैं। बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी हम लोगों ने अपनी साहित्य-साधना नहीं छोड़ी। द्वितीय महायुद्ध के काल में पत्र-पत्रिकाएं क्रमशः निस्तेज हो चुकी थीं। साहित्य के क्षेत्र मे गति-अवरोध-सा उत्पन्न हो चुका था। नरेन्द्र जी की प्रेरणा से ही बम्बई से द्वैमासिक पत्र 'नया साहित्य' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 'नया साहित्य' ने अपने ढंग से केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य की भी अच्छी सेवा की। इस पत्र की देखा-देखी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी कई नई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

सन् 1945 के अन्त में नटराज श्री उदयशंकर के निमंत्रण और श्रद्धेय पंत जी के आग्रह पर मैं 'कल्पना' चित्र के सिनेरियो-सम्वाद लिखने के लिए मद्रास गया। छः महीने वहां रहा। इस बीच में दो बार बन्धुवर नरेन्द्र जी मद्रास आए और दोनों बार हम लोग पंत जी के साथ पाण्डिचेरी श्रीअरविन्द के दर्शन

करने के लिए गए। अपनी दूसरी मद्रास यात्रा के समय ही बन्धुवर ने मुझे यह समाचार दिया कि उनका मन बम्बई की एक सुसंस्कृत गुजराती बाला से बंध रहा है। मैं और मेरी पत्नी दोनों ही इस समाचार से बहुत उल्लसित हुए थे लेकिन पन्त जी को विश्वास नहीं होता था। कहते थे, "अरे बन्धु, आप नहीं जानते, ये नरेन्द्र, ये कभी भला आदमी बनकर अपना घर नहीं बसाएगा।" मैं कहता, "नहीं पन्त जी, इस बार ये आपके लिए बहू अवश्य लाएंगे।"—"भगवान करे, इसको सुमति मिले। मैं तो, जब ये ब्याहकर के अपनी पत्नी को घर ले आएगा तभी मानूंगा।" नरेन्द्र जी के प्रति पन्त जी का यह वात्सल्य-भाव मैं कभी नहीं भूल पाता। सन् 1947 में कुमारी सुशीला गोदीवाला से श्री नरेन्द्र का विवाह हुआ। पन्त जी समधी बने, बाकायदा धोती-कुरता पहनकर नरेन्द्र जी की शानदार बरात लेकर गए थे। यदि मैं चितेरा होता तो विवाह मण्डप में बैठकर नई जोड़ी को देखते हुए महाकवि पन्त का चित्र अवश्य ही आंकता। नरेन्द्र जी को गृहस्थ बनते देखकर पन्त जी मानो अपने जीवन की सार्थकता पा रहे थे। दूसरे दिन वर-वधू के स्वागतार्थ होनेवाले मेरे घर के जलसे में पन्त जी ने जिस तन्मयता से अपना काव्यात्मक आशीर्वाद दिया था उसे मैं तो क्या, उस सभा में उपस्थित कोई भी व्यक्ति भूल नहीं सकता। सौ० सुशीला जी को पत्नी के रूप में पाना मेरे बन्धु के लिए सचमुच ही वरदान साबित हुआ। सुशीला जी घर के काम-काज में तो कुशल हैं ही साथ ही साथ कुशल चित्रकर्त्री और कहानी लेखिका भी हैं। इन दोनों की इस समय चार संतानें हैं—वासवी, मोघी, लावण्य तीन लड़कियां और चि० परितोष, एक कुलदीपक।

पिछले दस वर्षों से नरेन्द्र जी आकाशवाणी के साथ सम्बद्ध हैं। आकाशवाणी को 'विविध भारती, प्रोग्राम के रूप में श्री नरेन्द्र के कठिन श्रम-फल-स्वरूप एक ऐतिहासिक उपलब्धि हुई है। इसी दौरान में बन्धुवर ने योरोप, अमेरिका, जापान आदि देशों की यात्राएं भी कीं। लोक-व्यवहार के कामों में सफलतापूर्वक व्यस्त रहते हुए भी कवि नरेन्द्र की साहित्य-साधना एक दिन के लिए भी नहीं रुकी। अब तक उनके बारह कविता-संग्रह और एक कहानी संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। तीन कविता-संग्रह और भी प्रकाशित होने को हैं। फिल्मों और रेडियो के सुगम संगीत विभाग के लिए रचे गए उनके गीत अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं।

[1963]

राष्ट्रवादी कवि सोहनलाल द्विवेदी

जिस तरह छायावादी काव्यधारा की चतुष्टयी बखानते हुए पंत, निराला, प्रसाद और महादेवी के नाम लिए जाते हैं, उसी तरह यदि राष्ट्रवादी कवि चतुष्टयी का चुनाव किया जाए तो गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (त्रिशूल), माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त और सोहनलाल द्विवेदी के नाम ही हमारे सामने आएंगे। यों तो प्राय: हर कवि ने कमोबेश राष्ट्रवादी कविताएं भी उस काल में रची थीं; पर जिन कवियों ने विशेष रूप से अपने-आपको राष्ट्रवादी काव्यान्दोलन के प्रति ही उत्सर्ग किया था उनका एक इतिहास यदि अलग से लिखा जाए तो ऐसे बहुत-से प्रभावशाली, किन्तु अब भूले-बिसरे कवियों के नाम हमारे सामने आएंगे, जिन्होंने उस काल की जन-चेतना का निर्माण किया था। ऐसे कवियों में माधवशुक्ल का सुनाम भी मेरी स्मृति में इस समय सादर उभर रहा है। उस समय इन स्वनामधन्य राष्ट्रवादी कवियों में सोहनलाल जी हर तरह से नये थे। उनका काव्य-व्यक्तित्व दरअसल राष्ट्रवादी और छायावादी गंगा-यमुना का संगम तीर्थ है। इसीलिए स्वाधीनता-संग्राम-काल में आयोजित होने वाले कवि-सम्मेलनों के मंच पर अवतरण होने पर सोहनलाल द्विवेदी का स्वागत ऋतुनायक के समान हुआ था। मेरा ख्याल है, बहुत-से लोग मेरे साथ-साथ इस बात की गवाही देंगे कि उस ज़माने में पण्डित सोहनलाल जी द्विवेदी के बिना एक तो कोई बड़ा कवि-सम्मेलन हो ही नहीं सकता था, और यदि होता भी तो ऐसे ही लगता जैसे बिना नमक की दाल।

यों तो आज भी जिस कवि-सम्मेलन में सोहनलाल जी पहुंच जाते हैं उसकी शोभा ही न्यारी हो जाती है, पर उस ज़माने की बात कुछ और भी न्यारी थी। उन दिनों वे कवि-सम्मेलनों के 'राइज़िंग स्टार' (उगते सितारे) थे—जैसी ओजस्वी उनकी कविताएं वैसी ही वाणी और वैसा ही आकर्षक उनका व्यक्तित्व।

न हाथ एक शस्त्र हो।
न साथ एक अस्त्र हो।
न अन्न, नीर, वस्त्र हो।
हटो नहीं, डटो वहीं,
बढ़े चलो, बढ़े चलो।

कवि के साथ पण्डाल में उपस्थित हज़ारों श्रोताओं के सम्मिलित स्वर मिलकर सारे आलम को गुंजा देते थे, 'बढ़े चलो बढ़े चलो'। गांधी के प्रति यों तो उन्होंने इतना लिखा है कि वे गांधी के चारण कहे जाने लगे परन्तु शायद उनकी दांडी-यात्रा के अवसर पर लिखी गई सोहनलाल भाई की कविता—'चल पड़े जिधर दो डग मग में चल पड़े कोटि पग उसी ओर' —उस काल में गली-गली में गूंजा करती थी। 'किसान' कविता ने भी खूब समां बांधा था। आन्दोलन-काल में राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देने में कविवर सोहनलाल द्विवेदी का महत्त्व किसी भी राष्ट्रनायक से कम नहीं है।

व्यक्तिगत रूप में कविवर से परिचय होने का सौभाग्य मुझे सन् '37 या '38 से पहले नहीं मिल सका था। उन दिनों लखनऊ में एक राष्ट्रवादी विचारधारा के दैनिक पत्र 'अधिकार' के प्रकाशन की योजना कार्यान्वित हो चुकी थी। आर्य-नगर में डी० ए० वी० कालेज के पास एक विशाल भवन में प्रेस और कार्यालय स्थापित हो चुका था। और सम्पादक के पद पर श्री सोहनलाल द्विवेदी के प्रतिष्ठित होने की बात सुनी जा चुकी थी। उन दिनों मैं भी 'चकल्लस' साप्ताहिक प्रकाशित कर रहा था। स्व० नरोत्तम नागर मेरे साथ उसके सम्पादक थे। एक दिन सवेरे आकर उन्होंने कहा, "सोहनलाल द्विवेदी के सम्पादक होने की बात सच थी, वे आ गए। मैं उनसे मिलने जा रहा हूं, चलोगे ?" राज़ी होने में मुझे देर न लगी। 'अधिकार' कार्यालय में पहुंचने पर पता चला कि अभी-अभी तो यहीं थे। आते होंगे। हम लोग बैठकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर बाद ऊबकर फिर पूछताछ प्रारंभ की। व्यावहारिक-से लगने वाले मैनेजरनुमा व्यस्त सज्जन ने मुसकराकर कहा, "उनके बारे में भला क्या कहा जा सकता है। कविराज ठहरे। आप लोग बैठना चाहें तो बैठें, वरना अपना नाम-पता लिखकर दे जाएं, मैं उन्हें दे दूंगा।" नरोत्तम उनके नाम एक पत्र लिखकर रख आए।

दूसरे दिन सवेरे साढ़े आठ-नौ बजे लगभग एक नेताछाप सज्जन हमारे घर

पधारे। पहचानते देर न लगी, एक कवि-सम्मेलन में और कई बार प्रकाशित चित्रों में देखा हुआ चेहरा था। नेताई पोशाक में भी कवि की अलमस्ती छिपाए नहीं छिपती थी। उनसे मिलकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। नरोत्तम जी पास ही में रहते थे, उन्हें भी बुलवा लिया गया। घंटे-डेढ़ घंटे के साथ में हम विराने से अपने बन गए।

कुछ समय के बाद साहित्य-वाचस्पति रायबहादुर (तत्कालीन रायसाहब) पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के घर पर द्विवेदी जी से फिर मिलने का अवसर मिला। उन दिनों भैया साहब (चतुर्वेदी जी) शिक्षा प्रसार अधिकारी थे और आर्य नगर में रहते थे। उनका दरबार साहित्यिकों का ज़िन्दा अजायबघर था। कभी-कभी मैं भी वहां चला जाता था। डॉ० रामविलास शर्मा भी जाया करते थे। सच पूछा जाए तो भैया साहब के यहां ही मुझे सोहनलाल जी से मिलने के अवसर अधिक मिले। वैसे हम दोनों की दुनिया काफी अलग-अलग थी। सोहनलाल जी उन दिनों हीरो थे। अपने भक्तों ही से उन्हें अवकाश नहीं मिलता था। बड़े-बड़े भक्तगण उन्हें बड़े-बड़े प्रेमोपहार दिया करते थे। भैया साहब ने उनपर एक तुकबन्दी भी रची थी, जो शायद इस प्रकार थी। 'पण्डित सोहनलाल द्विवेदी, किसने तुमको टोपी दे दी, किसने तुमको धोती दे दी ?' ऐसे में हमारा-उनका अधिक साथ भला क्योंकर होता; फिर भी काव्य-प्रेमी होने के नाते उनकी प्रकाशित रचनाएं मुझे सदा उनके निकट ही लाती रहीं। उनकी 'वासवदत्ता' का मैं बड़ा आशिक हूं। उनकी 'किसान' कविता भी मुझे आज तक प्रिय लगती है। जिन दिनों कविवर की यह कविता धूम मचा रही थी, मैंने उसकी एक पैरोडी भी लिखी थी। उसकी कुछ प्रारंभिक पंक्तियां अब तक याद हैं :

यह सजे सजाये रूप हाट, जिसमें आते सब बने लाट।
कुछ कोट और पतलून डाट, कुछ अचकन से निज बना ठाठ।
कोठे, जिन पर टिकती निगाह, कोठे, जिन पर बैठतीं आह !
चंचल नयनों में भर अथाह, मद, देख जिन्हें उठते कराह।
ये पलंग और ये पानदान, ये पीकदान, ये पेंचवान,
ये तस्वीरें, सिगारदान, तबला सारंगी, अम्माजान।
यह तेरी हड्डी पर जवान। यह तेरी पसली पर जवान।

एक बार भैया साहब के घर पर जब कविवर ने बड़ी मनुहार के बाद भी अपनी कविताएं नहीं सुनाईं तो हमने अपनी पैरोडी सुनाना आरंभ कर दिया था। खूब हंसी हुई, बड़ा आनंद आया। पैरोडी सुनने के बाद कविवर ने हंसकर कहा, "ऐ बच्चू, अगर तुमने किसी कवि-सम्मेलन में यह पैरोडी सुनाई तो याद रखना, मैं तुम्हारी ही छड़ी से तुमको वहीं ठोकना शुरू कर दूंगा।" मैंने कहा, "यदि कभी ऐसा अवसर मिला तो सुनाने से हरगिज़ नहीं चूकूंगा। आपके इस नाटक से जनता का डबल मनोरंजन होगा और मेरी पैरोडी अमर हो जाएगी।" दुर्भाग्य-वश तब से अब तक मेरी उस पैरोडी को अमर होने का अवसर ही नहीं मिल सका। उसे कहीं छपने का अवसर भी नहीं मिला। क्योंकि 'चकल्लस' के अति-रिक्त मैंने अपनी पैरोडियां अन्यत्र कहीं प्रकाशित नहीं कराईं और 'चकल्लस' का प्रकाशन तब तक बन्द हो चुका था। उसकी पाण्डुलिपि भी अब शायद खो चुकी है। खैर, मुझे गम नहीं क्योंकि मेरी वह तुकबन्दी तो मौके का एक मनो-रंजन मात्र ही थी। मूल कविता 'किसान' अमर है। आज भी कविवर सोहनलाल जी द्विवेदी की यह कविता मुझे पुराने दिनों के समान ही प्रभावित करती है। वैसी ही नई लगती है।

ये बड़े-बड़े साम्राज्य, राज युग-युग से आते चले आज।
ये सिंहासन, ये तख्तताज, ये किले दुर्ग गढ़, शस्त्र साज।
इन राज्यों की ईंटें महान्, इन राज्यों की नींवें महान्।
इनकी दीवारों की उठान, इनकी प्राचीरों की उड़ान।
वह तेरी हड्डी पर किसान, वह तेरी पसली पर किसान।
वह तेरी आंतों पर किसान, नस की तातों पर रे किसान। [1969]

कलमजीवी पत्रकार नरोत्तम नागर

नरोत्तम नागर पचपन-छप्पन वर्ष की आयु तक कठिन पापड़ बेल-बेलकर अपनी कमलजीवी ज़िन्दगी का छकड़ा ठेलते हुए थक गए, बीमार हुए और मर गए। यह 'मर गए' शब्द दोस्तों के बीच हंसी-मज़ाक में कितने सहज भाव से इस्तेमाल होते रहते हैं, पर दोस्तों में से जब कोई एक सचमुच मर जाता है तब जीनेवालों के मनों पर जो बीतती है वह बखान से बाहर की अनुभूति है। नरोत्तम सन् '33-'34 में लगभग दिल्ली की एक फिलमी पत्रिका 'रंगभूमि' के सम्पादक बने। मैं नया लेखक था, अपनी रचनाएं इधर-उधर छपने के लिए भेजा करता था। सम्पादकीय दफ्तरों में वे प्रायः खो जाया करती थीं। एक रचना 'रंगभूमि' के लिए नरोत्तम के पास भेजी। साथ में पत्र लिखा कि नया लेखक होने के कारण मेरी रचना अस्वीकृत तो होगी ही लेकिन आपके नागर होने के कारण मैं केवल इतनी सुविधा चाहता हूं कि आप उसे अस्वीकार करने का कारण मुझे अवश्य लिख दें। जवाब देने के लिए टिकट साथ भेजे।

पांच-छः दिवसों के बाद नरोत्तम का पत्र आया। कहानी सराही। दूसरी भी मांगी और यह भी लिखा कि तुम नए लेखक हो तो मैं भी नया सम्पादक हूं। उसी समय से हम एक-दूसरे के मित्र हो गए। सन् '36 के आरम्भ में दिल्ली जाने पर पहली बार उनसे मेरी भेंट हुई। सम्पादक की हैसियत से नरोत्तम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे नई प्रतिभाओं को पहचानने और उन्हें अपने काम के लिए जुटाने की कला में बड़े ही पटु थे। बड़े हंसमुख, पुरमज़ाक, कैरम के शौकीन, पान के गुलाम, किताबों के मजनूं।

सन् '36-'37 के लगभग ही नरोत्तम ने 'रंगभूमि' और 'चित्रपट', 'नवयुग' आदि पत्रिकाओं के मालिकों से ऊबकर मेरठ में अपना साहित्यिक मासिक पत्र 'संघर्ष' निकाला। एक या दो अंक निकले। फिर 'संघर्ष' को कांग्रेस सोशलिस्ट

पार्टी ने ले लिया। वह मासिक से साप्ताहिक बनकर मेरठ से लखनऊ आ गया। नरोत्तम उसके सम्पादक बने रहे। अब उनकी स्थिति मालिक से वेतनभोगी की हो चुकी थी। उन्हें पार्टी के नेताओं की नीतियों के अनुसार चलना पड़ता था। वे स्वाभिमानी थे, सिद्धान्तवादी और विचारशील व्यक्ति थे, इसलिए अक्सर पार्टी के अधिकारियों की हर बात से सदा सहमत होना उनके लिए बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त उनके स्वभाव में दुर्भाग्यवश एक दोष भी था जिसके कारण उन्हें बहुत कष्ट भोगने पड़े। दोष यह था कि नरोत्तम अपने मन के किसी अभाव के कारण लोगों की साधारण बातों का भी अक्सर बुरा मान जाते थे। एक दिन किसी बात पर तन गए। मेज़ पर अपना त्याग-पत्र लिखकर रखा और दफ्तर से बाहर आ गए।

संघर्ष कार्यालय ह्विवेट (वर्तमान शिवाजी मार्ग) पर था। रामविलास शर्मा (अब स्वनामधन्य डाक्टर) और नरोत्तम नागर उसीके आसपास रहते थे। हम तीनों का घना साथ था। फ्रायडवाद से लेकर समाजवाद तक से नई-नई जान-पहचान हो रही थी। नरोत्तम फ्रायड के परम भक्त। कुछ दिनों तक रामविलास जी और मैं भी उनके मुरीद रहे। रामविलास जी खरगोश की चाल और मैं अंग्रेज़ी भाषा का कम अभ्यासी होने के कारण कछुए की चाल फ्रायडियन राह पर हिरन मार्का नरोत्तम जी के साथ दौड़ते रहे। खैर।

नरोत्तम जी के 'संघर्ष' सम्पादकत्व-काल के कुछ महीनों में हमारी दैनिक बैठकों ने हमें एक जान तीन कालिब-सा बना दिया था। नरोत्तम की नौकरी छूटी तो मैंने उनके साथ मिलकर एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने की योजना बनाई। हास्य-व्यंग्य का माध्यम ही हम मित्रों को रुचिकर लगा। अंग्रेज़ी राज में नई-नई कांग्रेस सरकार बनी थी। हमारा भी नया खून, नया जोश था। चकल्लसी दिन थे—दक्षिणपंथियों से लेकर वामपंथियों तक से छेड़ लेने में सुख मिलता था। कवि मित्र पढ़ीस जी के कविता-संग्रह 'चकल्लस' का नाम रामविलास जी ने सुझाया और हम सबको पसन्द आ गया।

लगभग पौने दो साल हमने खूब चकल्लस की। शाम को यूनिवर्सिटी से पढ़कर रामविलासजी मेरे यहां आते। निराला जी कभी प्रतिदिन और कभी हफ्तों बाद आते थे। पढ़ीस जी अक्सर आया करते थे। इनके अतिरिक्त मेरे तीन बाल-बन्धु ज्ञानचन्द जैन, राजकिशोर श्रीवास्तव और स्व० गोविन्दबिहारी खरे भी

उस चकल्लस गोष्ठी में सम्मिलित थे। हंसी, व्यंग्य, बौद्धिक चर्चाएं, काम की योजनाएं सभी रंग रहते थे। कभी-कभी नरोत्तम, रामविलास और मैं एक साथ एक योजना के अनुसार तीन प्रकार का मैटर लिखने बैठ जाते थे। वहीं लिखते, वहीं आलोचना होती और तत्काल नए सुधारों के बाद प्रेस मैटर बन जाता था। बाहर से अच्छा मैटर प्राय: न मिलने पर हम तीनों ही पूरा अंक अनेक उपमानों से लिख डालते थे। व्यक्तिगत रूप से मेरा यह सौभाग्य रहा कि रामविलास जी, नरोत्तम जी जैसे मित्रों के रूप में मुझे आलोचक बड़े तीखे और खरे मिले। इनसे होड़ लेने के लिए मुझे कठिन मेहनत करनी पड़ती थी। हम आपस में बहुत साफ थे। हम तीनों में कभी-कभी खटक भी जाती थी। रामविलास जी से हमारी मुंह-फुलौवल कभी दस-पन्द्रह मिनटों से अधिक अवधि की नहीं हुई; किन्तु नरोत्तम रूठें तो दो-दो चार-चार दिन हम लोगों से कटे रहें।

नरोत्तम केवल हास्य-व्यंग्य के माध्यम ही से संतुष्ट नहीं थे। वे 'उच्छृंखल' नामक एक फ्रायडियन मासिक प्रकाशित करने के लिए भी मुझे उकसा रहे थे। मैं उसके पक्ष में न था। यहां से वे उखड़े। एक दिन (निश्चय ही रविवार रहा होगा) सवेरे आठ बजे रामविलास जी और पढ़ीस जी आ गए। नरोत्तम जी को बुलवाया गया। दो बार आदमी भेजने पर आए। यह मूड था जैसे मालिक के बुलाने पर मातहत आया हो। मेरे एक साधारण-से मज़ाक को उनकी झक ने इस रूप में लिया जैसे मालिक ने मजाक किया हो। तीखे व्यंग्यकार तो थे ही, नरोत्तम ने एक बेतुकी चुटकी ली। मुझे भी ताव आ गया कि इस मालिक-मातहत की चकल्लस ही को अब नहीं रखूँगा। मैंने तत्काल घोषित कर दिया कि मैं 'चकल्लस' का प्रकाशन बन्द करता हूं। किस्सा खतम। चकल्लस यों बन्द हुआ और तब हुआ जब कि जमाव पर आ चला था। खैर! नरोत्तम जी के साथ मेरा मैत्री-भाव यथावत् बना रहा। रामविलास शर्मा भी उनके प्रति वैसे ही भाव रखते रहे।

नरोत्तम नागर आजीवन अपने से और जमाने से जूझते ही रहे। उनकी लड़ाई कभी गलत कभी सही भले ही रही हो लेकिन लड़वैये वह अन्त तक रहे। नरोत्तम अपने रंग के एक ही आदमी थे···थे। [1968]

ज्ञान प्रिंटर्स , शाहदरा, दिल्ली